॥ ॐ ॥

रामलालप्रभवेनमः

ग और योग

लेखक

ब्रह्मचारी ओमप्रकाश पालीवाल

(योग साधक)

प्रथम प्रसारित तिथि श्री रामनवमी सं० २०२१ विक्रमी
योगेश्वर महाराज श्री रामलाल जी के जन्म दिवस पर
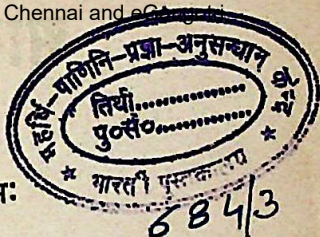
श्री विश्वेशराय नमः

★ ● ★

भोगी, रोगी, बनकर मानव, जीवन व्यर्थ बिताते क्यों हो ।
योग युक्त बन कर्म कुशल हो, निज हित देर लगाते क्यों हो ॥

भोग, रोग और योग

जहाँ भोग तहाँ रोग है, योग जहाँ ना रोग ।
बन्धन कारण भोग है, मार्ग भक्ति का योग ।

लेखक :—

ब्रह्मचारी ओम्प्रकाश पालीवाल

योग साधक

प्रकाशक :—

गुरुदेव योगिराज अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा सवाँई (एत्मादपुर)

जिला आगरा

चतुर्थ संस्करण ५०००] सन् १९८३ [मूल्य ३ रु० २५ पै०

सादर समर्पण

मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सब तोर।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागत है मोर।।

यह पुस्तक मैं अपने परम पूज्य सद्गुरुदेव अनन्त श्री १००८ योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के कर कमलों में सादर समर्पित करता हूं। जिन सद्गुरु भगवान ने रोग, शोक, ग्रसित मुझ तुच्छ को अपने पतित पावन चरण कमलों में लेकर पवित्र किया है उन सद्गुरु के प्रताप तथा प्रेरणा से ही यह लघु पुस्तक लिखकर उन्हीं को सादर समर्पित करता हूं।

चरण कमलों का सेवक
ब्रह्मचारी ओमप्रकाश पालीवाल
योग साधक
श्री सिद्ध गुफा सवांई (एत्मादपुर)
आगरा

।। श्री गुरुपरमात्मने नमः ।।

भूमिका

卐 * 卐

संसार में मानव जीवन के चार प्रयोजन बताये जाते हैं धर्म, अर्थ काम और मोक्ष। इन्हीं चारों प्रयोजनों को धर्म-शास्त्रों में चार पुरुषार्थ कहा गया है। मोटी से मोटी बुद्धि वाला भी इस बात को जानता है कि इन चारों पुरुषार्थों का प्रधान साधन मानव शरीर ही है। यदि आपका शरीर स्वस्थ है तो आप धर्माचरण, अर्थोपार्जन तथा काम सेवन कर सकते हैं, परन्तु यदि आपका शरीर ठीक नहीं तो आप इनमें से कोई भी कार्य नहीं कर सकेंगे; और आपका जीवन न केवल संसार के लिए वरन् आपके लिए भी भार स्वरूप हो जायगा। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का सर्व प्रथम कर्त्तव्य है कि वह अपने शरीर से स्वस्थ रहे।

अब शरीर स्वास्थ्य के बाद दूसरा स्थान आता है मन के स्वास्थ्य का। मान लो आपका शरीर स्वस्थ है, लेकिन चिन्ता के कारण मन अशान्त रहता है तो मन की डाँवा-डोल स्थिति आपको चैन से नहीं रहने देगी। अतः शरीर के स्वास्थ्य के साथ ही साथ मन का स्वस्थ होना भी जीवन में परमावश्यक है। यह मेरा अपना ही नहीं बल्कि समस्त प्राणियों का नित्य प्रति का अनुभव है।

में बचपन और किशोर अवस्था में प्रायः रुग्ण रहा करता था। मैंने स्वास्थ्य लाभ के लिए अनेक देशी विदेशी औषधियों का सेवन किया। जब तक दवाओं का प्रभाव रहता था तब तक के लिए रोग शांत हो जाता था तत्पश्चात् रोग पुनः आकर दबा लेता था। इस प्रकार किसी भी तरह पूर्ण आरोग्य की स्थिति मुझे प्राप्त नहीं होती थी। मुझे कब्ज की बहुत बड़ी शिकायत थी,

जिससे प्रायः जुकाम बना ही रहता था। शिरोवेदना पसलियों का दर्द व कफ की शिकायत रहती थी। किसी प्रकार से भी स्वास्थ्य लाभ न होने के कारण जीवन निराशामय बनता जा रहा था। संयोगवश मुझे कुछ योग-आसन सम्बन्धी पुस्तकों के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ जिनके पढ़ लेने पर योग की ओर मन का कुछ झुकाव हुआ, परन्तु उन्हीं में से किसी एक पुस्तक में यह कहावत पढ़ने को मिली—

"देखा देखी साधै योग, छीजै काया बाढ़ै रोग"

यह पढ़ लेने के उपरान्त इन साधनों को सिखाने वाले किसी अनुभवी योगी, महात्मा से मिलने की इच्छा उत्पन्न हुई।

पूर्व जन्म के शुभ संस्कारों के उदय होने पर दैवयोग से श्री सिद्ध गुफा तो पहले के आचार्य योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज से मुझे विचारविमर्श करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरा श्री महाराज जी से परिचय से ही था और मैं आश्रम में कभी-कभी आया-जाया भी करता था। सौभाग्य से मैं उसी ग्राम सवाँई का निवासी भी हूँ, जहाँ कि श्री महाराज का पतित-पावन आश्रम है। मेरा उस समय का वहां आना-जाना साधारण तौर पर होता था।

दैवयोग से मैंने एक दिन श्री महाराज जी को अपनी जीवन रूपी पुस्तक के भूतकालीन पृष्ठों को सुनाया जो रोग, शोक व मानसिक अशान्ति से भरे पड़े थे। श्री महाराज जी ने कृपा करके मेरी जीवन-गाथा को बड़े ध्यान से सुना और मुझे आश्वासन दिया कि प्रिय लल्ला, तुम पूर्ण रूप से स्वस्थ हो जाओगे। श्री महाराज जी ने आदेश दिया कि तुम कल से आश्रम आकर यहाँ बताई हुई योग की क्रियाओं को किया करना उनसे तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक हो जायेगा। महाराज जी ने मुझे स्वयं नेति तथा जीवन तत्व की क्रियायें व कुछ अन्य आसन कराये, जिनके करने से कुछ समय पश्चात फल यह निकला कि मेरे सब रोग नष्ट हो गये तथा मैं पूर्णरूप से स्वस्थ हो गया।
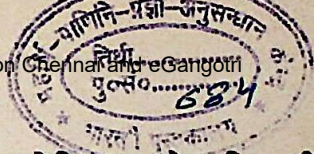
अब मैं शरीर से तो स्वस्थ हो गया लेकिन मन को शान्ति नहीं प्राप्त हुई। मन में एक अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता था; जिसके कारण मन किसी भी कार्य में स्थिर नहीं रह पाता था। विचार प्रतिक्षण बदलते रहते थे। मन की यह डांवाडोल स्थिति मानसिक अशान्ति का बहुत बड़ा कारण बनी हुई थी। विचारने पर इन सबका कारण यही मिला कि आध्यात्मिक (धार्मिक) पुस्तकों का अध्ययन तो बहुत किया था परन्तु मैं उनमें लिखे विचारों को क्रिया क्षेत्र में न ला सका। जिस प्रकार अधिक खाने पर कुपच हो जाता है और उसके कारण मनुष्य नाना प्रकार की बीमारियों से घिर जाता है ठीक उसी प्रकार अधिक किया गया स्वाध्याय मानसिक रोग का कारण बन गया था।

मेरा पूर्व का जीवन घोर भौतिकवादी (देहवादी) था। लेकिन सौभाग्यवश आध्यात्मिक पुस्तकों के अध्ययन से जब सुषुप्त दैवी संस्कार जागे तो दो विरोधी भावनाओं में संघर्ष उत्पन्न हो गया। यही अन्तर्द्वन्द्व का कारण था।

श्री महाराज जी से एक दिन मैंने आध्यात्मिक ज्ञान की दीक्षा के लिए निवेदन किया। श्री कृपानाथ ने कृपा करके मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और श्रीराम नवमी पर महाप्रभु योगयोगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज के शुभ जन्म-दिवस के दिन ज्ञान-दीक्षा देकर मुझे कृत-कृत्य किया। मेरे जीवन के इतिहास का वह दिन स्वर्णमय व मङ्गलमय था। वह दिन मेरे जीवन के नूतन उत्थान व नव जागरण का दिन था। श्री सद्गुरुदेवजी ने सम्पूर्ण भ्रम, संशय व अज्ञान को दूर कर सद्ज्ञान दिया। प्रथम जीवन धारा की जो गति पूर्ण रूप से भौतिक जगत की ओर थी उसे रोक कर, आध्यात्मिक मार्ग प्रदान किया। श्री गुरुदेव जी ने शक्तिपात दीक्षा द्वारा सुषुप्त दैवी शक्तियों को जाग्रत कर ध्यान में बिठाकर उस दिन आत्म-ज्योति के दर्शन कराये जिस दृश्य को देखकर मैं निहाल हो

गया। उस समय का दृश्य व उसमें प्राप्त आनन्द का वर्णन वाणी द्वारा सम्भव नहीं वह तो गूंगे का सा गुड़ था।

श्री सद्गुरु की कृपा से उसी दिन से मेरा जीवन बदलने लगा और कुछ ही समय बाद मैंने अपने जीवन में एक महान परिवर्तन पाया, यह मेरी ही अपने अनुभव की बात नहीं बल्कि मेरे जीवन साथी व पारिवारिक सदस्य भी जानते हैं कि मेरा पूर्व का जीवन किस प्रकार का था और अब किस प्रकार का है। मुझे स्वप्न में भी ऐसी आसा नहीं थी कि भविष्य में मेरा जीवन इस प्रकार का होगा क्योंकि उस दैवी विधान का किसी को कुछ पता नहीं जो क्षण में पतितों को पावन बना देता है। निम्न दोहा मेरे साथ चरितार्थ हुआ।

वहे बहाये जात थे, लोक वेद के साथ।
मारग में सद्गुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ ॥

अर्थात्—श्री गुरुदेव जी ने दया करके इस संसार-सागर में बहते हुए न जाने किन गुणों पर रीझ कर मुझे अपने चरण कमलों का सहारा देकर उवार लिया। श्री गुरुदेव ने मेरे अन्तःकरण को प्रकाशित कर माया के इस गहन अन्धकार में भटकने से बचा लिया। आज मैं उसी प्रकाश को लेकर जीवन मार्ग में आगे बढ़ रहा हूँ। आज मैं श्री गुरुदेव की कृपा का सहारा पाकर शरीर व मन दोनों से स्वस्थ हूँ और आशा रखता हूँ कि आज मैं श्री गुरुदेव की कृपा से भविष्य में भी स्वस्थ रहूँगा।

उपर्युक्त कथन से पाठक आसानी से समझ गये होंगे कि मेरा आरम्भिक जीवन पूर्णतः भोग-प्रधान था जिसके फलस्वरूप मैं रोग-शोक से ग्रस्त हुआ और अन्त में सद्गुरु कृपासे योग द्वारा अपने खोये हुए शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य को पुनः प्राप्त किया। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने श्री गुरु प्रेरणावश उन्हीं साधनों का वर्णन किया है जो रोग-शोक ग्रसित जीवन को आनन्द की ओर ले जाय। इस पुस्तक में वर्णित

साधनां को मैंने अपने जीवन में पूर्णतः लाभकारी सिद्ध होने पर ही लिखा है। इस लघु पुस्तक को लिखने का मूल उद्देश्य यही है कि सभी भाई-बहिन जो रोग-शोक ग्रसित हैं और जीवन से निराश हो बैठे हैं, इससे पूरा-पूरा लाभ उठायें और साथ ही श्री गुरु चरणों में आकर मेरी तरह जीवन सफल बनायें। मेरी इन सब बातों पर विश्वास करके श्री गुरु चरणों से प्राप्त प्रसाद को अपनायें जिसके द्वारा रोगी से निरोगी और निरोगी से पूर्ण स्वस्थ होकर संसार में सच्चे आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हुए दीर्घजीवी बनें।

इस पुस्तक में निज स्वरूप को समझने तथा हमारे समस्त सांसारिक कार्यों के मूल में किस वस्तु को प्राप्त करने की कामना छिपी है इस कामना की पूर्ति भोगों से होगी या भगवान की ओर जाने से, इन सभी बातों पर प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त हमारे शारीरिक एवं मानसिक रोगों का मूल कारण क्या है। इसको समाप्त कर हम रोग मुक्त जीवन किस प्रकार बिता सकते हैं आदि आदि बातों पर भली प्रकार प्रकाश डाला गया है।

आप इन सब बातों को ठीक-ठीक समझ लेने पर ही इस संसार यात्रा को सुखी एवं सफल बना सकते हैं। यह अज्ञान ही सम्पूर्ण दुखों की जड़ है। यदि संसार के दुःखों से बचना चाहते हो जो कि हमें अपने व संसार के यथार्थ ज्ञान के अभाव से मिलता है और साथ ही सुखमय जीवन को बनाते हुए मानव जीवन के परम लक्ष्य (ईश्वर) को प्राप्त करना है तो सद्गुरु की शरण में आकर सच्चा ज्ञान प्राप्त करो क्योंकि बिना सद्गुरु शरण गहे सत् और असत् का ज्ञान होना सम्भव नहीं और बिना सद्ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। इस भवनिधि से पार उतारने वाला एक मात्र साधन सद्गुरु ही है। इसका इसका प्रमाण तुलसीदास जी ने रामायण में दिया है—

"बिन गुरु भवनिधि तरइ न कोई।
जो विरंचि शङ्कर सम होई ।।"

अर्थात्—प्राणी मात्र की तो बात दूसरी है देवता तक इस भव से बिना गुरू कृपा के पार नहीं जा सकते। इस प्रकार बिना गुरू के जीवन यात्रा की सफलता सम्भव नहीं, केवल पुस्तकों के पढ़ने, जप, तप आदि के करने से उस परमात्मा को जानना सम्भव नहीं। अपितु इसके लिए सद्गुरु कृपा का होना परमावश्यक है। सद्गुरु का मिलना ईश्वर की कृपा पर निर्भर है। कहा भी है—

"अब मोहि भा भरोस हनुमन्ता।
बिन हरि कृपा मिलहिं नहि सन्ता।।"

ईश्वर कृपा व गुरू कृपा का पात्र मनुष्य जभी बनता है या उन कृपाओं से मनुष्य तभी लाभ उठा सकता है जब कि वह अपने आपकी कृपा करे; अर्थात् उनके बताये हुए मार्गों पर चले। वह परम पिता परमात्मा मन्दिर मसजिद और गुरुद्वारों के आधीन नहीं, बल्कि उस परम प्रकाश का निवास सभी के मन मन्दिर में है। उसको आप जप तप, तीर्थ आदि से प्राप्त नहीं कर सकते। यह तो सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। इसलिए बिना गुरु की कृपा के प्रायः सभी साधन निष्फल ही जानो—

गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै, गुरु बिन मिलै न मोक्ष।
गुरु बिन लखै न सत्य को गुरु बिन मिटै न दोष।।

इसलिए सद्गुरु शरण आओ! बिना सद्गुरु शरण आये उस परधाम का पाना सरल कार्य नहीं है।

"बड़े भाग्य मैं सद्गुरु पाये, मन की संशय सभी मिटाई।
बाहर ढूँढ़ फिरा मैं जिसको, सो घर भीतर वस्तु लखाई।।"

★ सद्गुरुदेव भगवान की जय ★

॥ श्री गुरु परमात्मने नमः ॥

❋ भोग ❋

—:: ०० ::—

लक्ष्य रहित जीवन :—सज्जनो ! क्या आपने कभी एकान्त में बैठ कर शान्त चित्त हो, जीवन के इन मूल प्रश्नों पर विचार किया है—

सोचा तुमने क्या कभी कि मैं हूँ कौन, कहाँ से आया ?
बना कहाँ से कैसे, किसने, मुझको यहाँ पठाया ?

कि हम कौन हैं, यहाँ (संसार में) हमको किसने भेजा है ? हमारे यहाँ आने का प्रयोजन क्या है और अन्त में मृत्यु के बाद हम कहाँ चले जायेंगे ?

यह बड़ी विचित्र बात है कि संसार में अधिकाँश व्यक्ति बिना सोचे समझे निरुद्देश्य जीवन-यात्रा करते पाये जाते हैं। हम संसार की छोटी से छोटी यात्राओं के सम्बन्ध में, उस स्थान पर पहुँचने से पूर्व उसके पहुँचने के रास्तों और साधनों के बारे में जानकारी अवश्य कर लेते हैं, यदि अनेक रास्ते हों तो उनमें से कौन सा रास्ता, सब में छोटा, सरल तथा सुखद है, इन सब बातों का पूर्ण निश्चय करके ही हम चलते हैं। किन्तु खेद की बात है कि हमें अपनी जीवन रूपी एक महान सांसारिक यात्रा, के विषय में, जिस पर हमारे इसी जन्म के ही नहीं अपितु सम्भवतः हजारों, लाखों जन्मों के सुख-दुःख निर्भर करते हैं, हमें उसका लक्ष्य ही ज्ञात नहीं, हम तो कवि की निम्नलिखित पंक्तियों को चरितार्थ करते पाये जाते हैं—

चले जा रहे हैं हम, अपनी ही धुन में।
न मंजिल न मकसद न तैयारियाँ हैं।।

अर्थात्—एक पागल की तरह हम अपनी ही धुन में निरुद्देश्य, निष्प्रयोजन बेतहाशा भागे जा रहे हैं। हमने जीवन-यात्रा आरम्भ कर दी है और हम अपने लक्ष्य की दिशा को न जानकर यात्रा में बहुत दूर निकल भी आये हैं।

जीवन की कोई भी अवस्था हो, चाहे गृहस्थ—अवस्था अथवा विरक्त, जीवन तो बीतेगा ही किन्तु अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए व्यवस्था पूर्वक बिताया गया जीवन ही वास्तव में अर्थपूर्ण जीवन है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक बुद्धिमान प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह प्रथम अपनी जीवनगति से परिचय अवश्य करले, तत्पश्चात् एक निश्चित विधान के अनुसार अपना जीवन बिताये।

सज्जनों! इस समय तुम अगणित जन्मों से यात्रा करते हुए एक ऐसे शरीर में प्रतिष्ठत हुए हो जहाँ अन्य जीव-योनियों से भिन्न तुम्हें विकसित बुद्धि का सुयोग प्राप्त हुआ है। इस समय तुम्हारे सामने एक ऐसा सुनहरा अवसर है, और तुम पुरुषार्थ द्वारा ऐसे साधन भी सुलभता से जुटा सकते हो, जिनसे कि तुम अपने जीवन लक्ष्य को जानकर, उसे प्राप्त कर सकते हो, अर्थात् तुम इस भौतिक जीवन के बन्धनों को तोड़ कर मुक्ति को प्राप्त कर सकते हो। यह मानव-शरीर तुम्हें इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए उस परमपिता की कृपा से मिला हुआ है। इसके द्वारा तुम अपने परमार्थ स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके अपने सनातन, जीवन के सत्य-पथ को उपलब्ध करो जो कि तुम्हारा चरम लक्ष्य है।

खेद का विषय है कि आज हम बाह्य भौतिक जगत् के विषय में बहुत कुछ जानते हैं तथा जानने की इच्छा भी रखते हैं, परन्तु

'दिये तले ही अँधेरा है' अर्थात् हम अपने ही विषय में कुछ नहीं जानते, और न जानने का प्रयत्न ही करते हैं। आज हम इतने आत्म-विस्मृत हो रहे हैं कि पञ्च-भौतिक इस साढ़े तीन हाथ के शरीर को ही अपना स्वरूप समझ कर इसी में स्थित हो रहे हैं, जिससे हमारे अन्दर अपने यथार्थ स्वरूप को जानने का कभी प्रश्न ही नहीं उठता।

हे, लक्ष्य को भूले हुए मानव ! तुझे जीवन-यात्रा प्रारम्भ करने से पूर्व पहला पाठ यह पढ़ना होगा कि "मैं कौन हूं ?" तत्पश्चात् 'मैं कहाँ से आया हूँ', एवं 'मुझे जगत में किसने तथा क्यों भेजा है ?' और अन्त में 'मुझे कहाँ जाना है ?' आदि पाठ पढ़ने होंगे ? यह तेरा लक्ष्य-रहित जीवन तो मुझे पतन तथा आपत्तियों की ओर ले जाने वाला विपरीत मार्ग है।

लक्ष्यहीन प्राणी जीवन में कष्ट सदा ही पाते हैं।
वशीभूत मायावश अपना जीवन व्यर्थ गँवाते हैं॥

अगर मानव-शरीर में विकसित बुद्धि को पाकर भी तुमने अपने लक्ष्य को नहीं जाना, तो क्या इसे अन्य योनियों में जान सकोगे ? अखिर इस अविद्या के अन्धकार में पथभ्रष्ट होकर कब तक भटकते रहोगे। इसलिए आओ ! तुम्हें याद दिलायें कि यह मानव-जीवन कितना मूल्यवान् है, तथा इसका क्या लक्ष्य है ? यदि अभी तक आप मानव जीवन के लक्ष्य को नहीं समझ सके हैं तो अब समझ लें।

सज्जनों ! योगयोगेश्वर भगवान् शंकर जी ने हजारों वर्ष की तपस्या के बाद, इस मानव-जीवन का सार तत्त्व समझ कर अपने अनुभव को उमा अर्थात् पार्वती जी को इस प्रकार बताया :—

"उमा कहउँ अनुभव मैं अपना।
सत, हरिभजन, जगत सब सपना।"

ठीक यही बात मानव-जीवन लक्ष्य को लक्षित करते हुए तुलसी-दास जी ने हमारे पूज्य तथा माननीय ग्रन्थ रामायण में कही है :—

"देह धरे का यह फल भाई।
भजहु राम, सब काम बिहाई।।"

इसके अतिरिक्त कठोपनिषद् के निम्न श्लोक से भी यही बात प्रमाणित होती है :—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धि तु सारथि विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रयाणि हयानाहु विषयस्तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भवेत्याहुर्मनीषिणः ।।

अर्थात् यह शरीर एक रथ के समान है और आत्मा इसी शरीर रूपी रथ में यात्री है। इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। बुद्धि इस इस शरीर रूपी रथ का सारथी है तथा मन इन्द्रियों का प्रग्रह (लगाम) है। यह आत्मा इन्द्रिय तथा मन से युक्त होकर आत्मतत्व का अनुभव करता हुआ अपने परम-धाम परमात्मा की ओर गतिशील होता है।

इस दृष्टान्त से आत्म-ज्ञानी ऋषियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह शरीर एक रथ है जो कि परमात्मा की ओर से अपने-अपने भोगों के आधार पर भिन्न-भिन्न नाम और रूपों वाली आत्माओं को प्राप्त हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व परमात्मा की ओर ले जानेवाला मार्ग है तथा इसमें उपलब्ध विषय-भोग जीवों की यान्त्रिक सुखद सामग्रियाँ हैं।

उस परमपिता परमात्मा ने अपने प्रिय पुत्र जीव को अपने पास तक आने के इस संसार रूपी मार्ग को, भिन्न-भिन्न आवश्यक वस्तुओं से सजाया है। यहाँ उस न्यायकारी 'परमात्मा ने जीव की मार्गिक सुविधायें जैसे क्षुधा की तृप्ति के लिए अन्न, पिपासा को शाँत करने के लिए जल, वस्त्र, मकान तथा मार्गिक विपत्तियों में हाथ बँटाने के उसे एक जीवन–साथी दिया जो पुरुष की अर्द्धांगिनी कहलाती है। जीव मार्ग की इन सुविधाओं को पा इन्हीं में उलझ कर अपने लक्ष्य को भूल गया और संसार रूपी मार्ग को ही मंजिल (लक्ष्य) समझ कर उसने यहीं अपना जीवन-डेरा लगा लिया और वह मार्ग में प्राप्त सामग्रियों के संग्रह, परिग्रह में लिप्त होकर इन्हीं का हो बैठा।

सज्जनों ! यह मानव-जीवन ही एक ऐसा चौराहा है कि, यहाँ से नर्क-स्वर्ग तथा अपवर्ग के लिए रास्ते जाते हैं। ततः तुम्हें इस चौराहे पर आकर खूब सोच समझकर अपने जीवन-लक्ष्य की दिशा को या राह को जानकर यहाँ से आगे, कदम बढ़ाना है। नहीं तो इस दोहे के अनुसार—

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछिताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय ॥

उसे पछताना होगा। हमें मानव-जीवन की स्वाभाविक जीवन-गतिविधि पर गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि––

सुख व आनन्द की प्राप्ति ही प्राणी-मात्र का लक्ष्य है :—चाहे हमारा जीवन-रथ संसार यात्रा में किसी उद्देश्य को लेकर चल रहा हो या उद्देश्य-रहित, किन्तु हम सबका अन्तिम और सच्चा उद्देश्य एक ही मिलता है। यह सत्य है कि संसार-यात्रा में प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न भोगों (साधनों) का उपभोग करता पाया जाता है लेकिन इन सबके पीछे मुख्य साध्य सबका एक ही मिलता है। रात दिन पैसा

कमाने वाले से यदि पूछा जाय कि तू पैसा क्यों कमाता है ? तो वह उत्तर में यही कहेगा कि पैसों से मैं अमुक-अमुक भोगों का उपभोग करूँगा। अगर उससे पुनः पूछा जाय कि तू अमुक-अमुक भोगों को क्यों भोगना चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि मुझे अमुक-अमुक भोगों के भोगने पर सुख (आनन्द) मिलता है। अगर उससे पुनः प्रश्न किया जाय कि तू सुख को ही क्यों चाहता है, तो वह विचार कर यही उत्तर देगा कि सुख आनन्द की चाह तो मुझमें स्वाभाविक है। अर्थात् यह कोई नहीं कहता कि अमुक प्रयोजन (लक्ष्य) की प्राप्ति के हेतु मैं सुख या आनन्द को चाहता हूँ।

इस प्रकार हम एक ही परिणाम पर पहुँचे कि सुख व आनन्द ही एक मात्र समस्त प्राणियों के जीवन का लक्ष्य है। संसार–यात्रा में मिलने वाले मार्गिक सुख-साधनों (धन, ग्रह, स्त्री, पुत्र आदि) को ही साध्य (आनन्द) समझ कर समस्त प्राणी इन वस्तुओं के पीछे पड़ा करते हैं। हमें वस्तु प्रिय नहीं बल्कि प्रिय तो हमारा वह लाभ है जो वस्तु के उपभोग से मिलता है। उदाहरण के लिए आप स्त्री, पुत्र आदि से इन्हीं के लिए प्रेम नहीं करते बल्कि आप इनसे मिलने वाले सुख से प्रेम करते हैं। जब उसी स्त्री, पुत्र से आपको सुख के बजाय दुःख मिलता है तब आप उनसे अलग हो जाते हैं। वास्तव में प्राणियों के मन में सुख (आनन्द) के जितने भेद होते हैं, वे सबके सब साधनों के बारे में ही होते हैं। साध्य या लक्ष्य के विषय में तो तिल मात्र का भी भेद देखने में नहीं आता। इस संसार–यात्रा में प्रत्येक प्राणी बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये जाने में या अनजाने में स्वाभाविक रूप से एक मात्र आनन्द के लिए ही गतिशील है। योगवशिष्ठ के निम्न श्लोक के अनुसार—

"आनन्दा यैव यैव भूतानि यतन्ते यानि।"

अर्थात् :—संसार का प्रत्येक प्राणी आनन्द के लिए ही यत्न करता है। वास्तव में विवेक-दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि संसार में प्रत्येक जीव का पुरुषार्थ सुख-शान्ति के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु के लिए है ही नहीं। जीव का यह पुरुषार्थ एक जन्म से ही नहीं अपितु जन्म-जन्मान्तरों से होता चला आ रहा है। सम्पूर्ण विश्व में ऐसा कोई भी जीव नहीं जिसके हृदय में इस प्रकार की इच्छा न हो, केवल इच्छा ही नहीं वरन् प्राणी मात्र का प्रत्येक कर्म इसी परम इच्छा की पूर्ति के लिए हो रहा है। क्या भला क्या बुरा, सब कर्मों का परम लक्ष्य प्राणी की अपनी बुद्धि से विचार किया हुआ, अपने लिये सुख व आनन्द की प्राप्ति ही है। संसार में एक भी प्राणी ऐसा नहीं जिसका कर्म दुःख के लिए हो, उसका वह कर्म दूसरों की दृष्टि में भले ही दुःख का कारण हो लेकिन कर्त्ता के अपने मन से तो उसका अपना कर्म सुख के लिए ही होता है।

पूर्व कथन से पाठक इस बात को भली प्रकार से समझ गये होंगे कि समस्त विश्व के प्राणियों की जीवन-गति एक ही लक्ष्य से लक्षित वस्तु की ओर है और उनके अन्दर उसी एक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक वस्तुओं की इच्छा या अनेक रास्ते पाये जाते हैं और वह लक्ष्य हैं सुख अथवा आनन्द।

हमारा स्वरूप क्या है ?

अब आइये ! तनिक विचारें कि हमारा स्वरूप क्या है ? तथा हम सुख (आनन्द) को ही क्यों चाहते हैं ? विचार-सागर में गहरे उतरने पर पता चलता है कि प्राणीमात्र के मूल स्वभाव में मुख्य रूप से पाँच बातें पाई जाती हैं। प्राणी-मात्र में सर्वप्रथम स्वाभाविक इच्छा यह पाई जाती है कि, "मैं सदा जीवित रहूँ। अर्थात् कोई भी स्वभाव

से मरना नहीं चाहता। अगर उससे पूछा जाय कि तू जीवित रहना क्यों चाहता है ? तो वह यही उत्तर देगा कि जीवित रहने की इच्छा तो स्वाभाविक ही है। इसी को आध्यात्मिक भाषा में सत् अथवा शाश्वत जीवन या अमर जीवन कहते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि आखिर हम जिन्दा क्यों रहना चाहते हैं ? तो उसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि सम्पूर्ण सृष्टि का ज्ञान प्राप्त करने के लिये जिन्दा रहना चाहते हैं, संसार अर्थात् हमारी दूसरी इच्छा या लक्षण है, ज्ञान की प्राप्ति; अर्थात् हम दुनियाँ में ज्ञानवान बनकर जीवित रहना चाहते हैं। मूर्ख और अज्ञानी बनकर कोई भी जीवित रहना नहीं चाहता। इसी को आध्यात्मिक भाषा में चित कहते हैं। लेकिन केवल जीवित रहने से और सब बातों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से तृप्त न होकर हम दुःख न चाहकर अखण्ड व परिपूर्ण सुख तथा शान्ति चाहते हैं। यह मानवीय स्वभाव का तीसरा लक्षण है। इसी (सुख) को आध्यात्मिक भाषा में आनन्द कहते हैं। परन्तु यदि अपने हृदय की अभीष्ट सम्पूर्ण सुख-सामग्री हमें अपने स्वतन्त्र अधिकार से न मिलकर दूसरों के किसी अनुग्रह से मिले तो ऐसे सुख से हम तृप्त या सन्तुष्ट न होकर स्वतन्त्रता चाहते हैं। पराधीनता के बन्धन में कोई भी बँधना नहीं चाहता। सब बंधनों की निवृत्ति हमारा चौथा लक्षण है। और इसी को आध्यात्मिक भाषा में मोक्ष के नाम से पुकारते हैं। इस आदर्श रूप परम ध्येय को कोई भी विचारशील व्यक्ति अपने हृदय से नहीं निकाल सकता क्योंकि यह इच्छायें (लक्षण) तो प्राणी मात्र के हृदय में ईश्वर द्वारा स्थापित की हुई हैं। स्वतन्त्र रहने का स्वभाव समस्त जीवों में मूल रूप में पाया जाता है। मनुष्य की तो बात ही क्या है, पशु-पक्षी तक बन्धन में रहना पसन्द नहीं करते।

क्या शाश्वत अस्तित्व, अखण्ड ज्ञान, परिपूर्ण आनन्द और स्वतन्त्रता के मिलने पर हम पूर्णतः तृप्त हो जाते हैं? नहीं। क्योंकि इसके अतिरिक्त हम चाहते हैं कि ब्रह्माण्ड की समस्त घटनायें हमारी इच्छानुसार हों। इसी पांचवें लक्षण का संस्कृत नाम ईश्वर है। ये पाँचों लक्षण प्राप्त हो जाने पर इनके अतिरिक्त प्राणी की चाहने योग्य वस्तु चौदह भुवनों में भी शेष नहीं रह जाती। हम जो भी कार्य व प्रयत्न करते हैं वे सब के सब इन्हीं पांचों में से किसी न किसी इच्छा की प्रेरणा से किये जाते हैं। जिस प्रकार मूली के खा लेने पर डकार भी उसी प्रकार की आती है; ठीक उसी प्रकार हमारे मूल में यह लक्षण होने पर ही हमारा मूल स्वभाव उन्हीं भावों को बाहर प्रगट करता है।

अब हमें विचारना है कि इन पाँचों लक्षणों से युक्त लक्ष्य का नाम क्या है? उसका स्थान कहाँ है? तथा उस लक्ष्य को किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? हमें अपने धर्म-शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि ये पाँचों लक्षण ईश्वर में पाये जाते हैं अर्थात् इन पाँचों लक्षणों का मूल स्रोत ईश्वर है क्योंकि वह यथा नाम तथा गुणों से युक्त हैं। ईश्वर का नाम सच्चिदानन्द है। सत् का अर्थ शाश्वत जीवन चित् का मतलब है अखण्ड ज्ञान तथा आनन्द को लौकिक भाषा में सुख कहते हैं। इस प्रकार ये लक्षण ईश्वर में तो हमें स्पष्ट तथा शास्त्रों द्वारा प्रतीत होते हैं और जीव के ये मूल स्वभाव में पाये जाते हैं। योग शास्त्र में ईश्वर स्वरूप का निरूपण इस प्रकार मिलता है—

"क्लेशकर्म विपाकाशयैर् परामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः" ॥२४॥

अर्थात्—क्लेश—कर्म—विपाक कर्मों के फल और वासनाओं से असम्बद्ध, अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न, उत्कृष्ट) चेतन, ईश्वर है। लेकिन जीव क्लेश, विपाक, कर्मों के फल व वासनाओं में बद्ध हो

जाता है। ईश्वर इनमें लिप्त नहीं होता। बस ईश्वर और जीव में इतना ही भेद है जीव के अन्दर से जैसे यह विकार निकलते जाते हैं वह वैसे ही वैसे ईश्वरीय भाव को प्राप्त होता जाता है।

हम देखते हैं कि जो व्यक्ति अपने आपको नास्तिक कहता है और ईश्वर को नहीं मानता वह भी तो ज्ञात या अज्ञात रूप में इन्हीं पाँच लक्षणों से युक्त सच्चिदानन्द परमात्म स्वभाव को प्रकट करता है अर्थात् हम सब नर होते हुए नारायण के स्वरूप से परिचित न होने पर भी नारायण के स्वभाव को प्रकट करते पाये जाते हैं। दूसरे शब्दों में नारायण ही बनना चाहते हैं। इस प्रकार यह बात पूर्णतः सिद्ध हो चुकी कि हम ईश्वर के अंश हैं क्योंकि जो गुण पूर्णतः ईश्वर में पाये जाते हैं वे ही गुण हमारे मूल स्वभाव में अंशतः पाये जाते हैं। हम संसार में जन्म लेते ही बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये यही ईश्वरी स्वभाव प्रकट करते हैं इसी मानवीय ईश्वरी स्वभाव की पुष्टि तुलसीदास जी की निम्नलिखित चौपाई से होती है :—

"ईश्वर अश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखरासी।।"

इसी बात का प्रमाण श्री गीता में योग योगेश्वर श्री कृष्ण भगवान द्वारा अर्जुन को दिये गये उपदेशों में मिलता है। गीता के पन्द्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक में भगवान अर्जुन को जीवात्मा व परमात्मा के अभेद सम्बन्ध को बताते हुए कहते हैं :—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।

अर्थात्—इस लोक में यह जीव मेरा ही सनातन अंश है। इस जीव को मन के सहित छः इन्द्रियाँ ही इसे प्रकृति की ओर खींचती हैं। श्री भृगुऋषि के कथन से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है श्रुति के अनुसार :—

"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजा-नात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमान भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्द प्रयन्त्यभिशं विशन्ति ॥"

अर्थात् :—श्री भृगुजी ने आनन्द ही ब्रह्म है इसको निश्चय पूर्वक जान लिया क्यों सचमुच आनन्द ही से समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर आनन्द ही से जीते तथा प्रयाण करते हुए अन्त में आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं।

सज्जनों ! इस प्रकृति का यह अटल सिद्धान्त है कि जो पदार्थ जिस सम्पूर्ण का अंश होता है अर्थात् जहाँ से जन्म लेकर अलग होता है, फिर वह अपूर्ण, अपने सम्पूर्ण की ओर दौड़ता है । उदाहरण के लिए किसी मिट्टी के खण्ड अथवा पत्थर के टुकड़े को आकाश की ओर चाहे जितनी ताकत लगाकर फेंको तो वह टुकड़ा कुछ ऊपर जाकर तुरन्त ही नीचे की ओर लौट कर गिरने लगेगा, वह आकाश में नहीं ठहरेगा क्योंकि वह पृथ्वी का अंश है । उसका जन्म तथा विकास पृथ्वी से हुआ है। इसी प्रकार अग्नि की ज्वाला को पृथ्वी की ओर कितना भी यत्न करके रोकें परन्तु वह इधर न रुक कर आकाश की ओर दौड़ने लगेगी क्योंकि अग्नि का केन्द्र जो सूर्य मण्डल है वह ऊपर की ओर है अतः ज्वाला स्वाभाविक रूप से सूर्य मण्डल की ओर खिचगी। इसी प्रकार जल का केन्द्र पृथ्वी के नीचे है इसी कारण जल की स्वाभाविक गति नीचे की ओर है। इन उदाहरणों से से पाठक आसानी से समझ गये होंगे कि प्रत्येक पदार्थ का अंश अपने अंशी से अलग होकर पुनः उससे मिलने की स्वाभाविक इच्छा से प्रेरित पाया जाता है। दूसरे शब्दों में जो पदार्थ जहाँ से उत्पन्न होता है वह सदा अपने उत्पन्न के स्थान की ओर स्वाभाविक रूप से गतिशील पाया जाता है।

ठीक इसी सिद्धान्त के अनुसार यह जीवात्मा भी उस परम ब्रह्म

परमात्मा का अंश होने के नाते अपने अशीं (ईश्वर) से मिलने के लिये स्वाभाविक रूप से उसी (ईश्वर) की ओर गतिशील है। वास्तव में इस संसार में जन्म लेने से पूर्व जीव का सम्बन्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा से ही होता है। उस समय यह जीव, पूर्णतः शुद्ध ईश्वरीय स्वरूप ही होता है लेकिन भौतिक प्रकृति के संसर्ग में आकर जीव अपने आत्मस्वरूप को खो बैठता है। इसके विषय में तुलसीदास जी का भाव इस प्रकार है—

"भूमि परत भा ढाबर पानी।
जिमि जीवहिं माया लपटानी॥"

अर्थात् जिस प्रकार वर्षा का पानी भूमि पर गिरने से पूर्व शुद्ध निर्मल तथा पवित्र होता है लेकिन भूमि पर गिरते ही वह अपवित्र हो जाता है इसी प्रकार यह जीव भौतिक प्रकृति के संयोग से पहले शुद्ध तथा ब्रह्म-स्वरूप ही होता है लेकिन प्रकृति का संयोग पाकर वह अपवित्र हो जाता है।

जीव का रूप दो के मिलन (संयोग) से होता है। अकेला न तो यह आत्मा ही जीव है और न यह प्रकृति (शरीर) ही। अपितु जीव, आत्मा और प्रकृति (शरीर) के संयोग का नाम है जो गुण दोषों को धारण करता है। अकेली न तो यह प्रकृति ही और न यह आत्मा ही कुछ करने योग्य है जिस प्रकार पानी और चीनी के संयोग से शर्बत बनता है तथा बिजली और बल्व के संयोग से प्रकाश होता है ठीक उसी प्रकार से आत्मा रूपी विद्युतधारा व शरीर रूपी बल्व के मिलने से प्रकाश रूपी जीव के स्वरूप का प्राकट्य होता है। जिस प्रकार पानी के सम्पर्क में आकर चीनी अपने स्वरूप को खो बैठती है उसी प्रकार जीव भी प्रकृति के सम्पर्क में आकर अपने शुद्ध, चेतन आत्म-भाव को भूल जाता है।

परम–आत्मशक्ति अपने अंश जीव—आत्मा को अपनी ओर ऊपर को खींचता है तथा दूसरी ओर पञ्चभौतिक प्रकृति, जीव के पञ्चभौतिक प्रकृति के अंश, उसके स्थूल शरीर को अपनी ओर खींचते हैं, क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार सजातीय वस्तु सजातीय वस्तु की ओर स्वाभाविक रूप से खिंचती है। बस यही जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष का खेल ससार में देखने में आता है। बस इसी जड़ और चेतन की ग्रन्थि को सुलझाने के लिए जीव को इस संसार रूपी परीक्षा-स्थल में भेजा गया है। जीवात्मा के अन्दर जैसे-जैसे शरीर-भाव दृढ़ होते हैं कि मैं, पंच भौतिक पदार्थों से निर्मित हाड़, माँस का पुतला हूँ वैसे ही जीव के अन्दर जड़ीय भाव, चेतन शक्ति से शक्ति पाकर उसे जड़ता की ओर खींच ले जाते हैं। यह सब भौतिक वस्तुओं में राग होने पर ही होता है लेकिन दूसरी ओर जब जीव, त्याग और वैराग्य द्वारा शरीर-भावों से अपने आपको अलग कर आत्म–चिन्तन करता या अपने को जड़ शरीर न मानकर चेतन—आत्मा मानता है और वह चेतन परम-शक्ति द्वारा परमात्मा की ओर खिंचने लगता है।

अब पाठक भली प्रकार समझ गये होंगे कि हमारा स्वरूप निर्विकार व नित्य आनन्दमय ईश्वर-रूप है। हम जबसे उस आनन्दकन्द सर्व व्यापक प्रभु से पृथक हुए हैं तभी से उस प्रभु से मिलने (योग) के लिए क्रियाशील हैं।

आनन्द के भेद :—

यद्यपि आनन्द का मूल स्रोत एक ब्रह्म ही है किन्तु संसार में उसी एक (आनन्द) के तीन भेद देखने में आते हैं, जिसमें प्रथम है विषयानन्द। द्वितीय है निजानन्द तथा तृतीय है परमानन्द। यह संसारी जीव, आनन्द के मूल स्रोत या धाम से ठीक-ठीक परिचय

न होने के कारण आनन्द के लिए इधर-उधर भटकता रहता है। अतएव आनन्द सुख (सुख) की प्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक प्राणी को इस बात की जानकारी अवश्य कर लेनी चाहिए कि वास्तविक आनन्द का केन्द्र या स्रोत कौनसा है, तत्पश्चात् सही निर्णय होने पर उसे अपना सम्बन्ध उसी आनन्द के उद्‌गम से जोड़ लेना चाहिए।

अब आइये शान्त-चित्त से बैठेकर विचारें कि एक ही आनन्द के ये तीन रूप कैसे हुए ? सर्व प्रथम हम विषयानन्द के विषय में विचार करेंगे। इसको दूसरे शब्दों में पाशविक आनन्द भी कहते हैं। हमें पशुओं में चार प्रकार की सुख-प्रवृत्ति देखने को मिलती है— १–आहार, २–निद्रा, ३–भय तथा ४–मैथुन। बस पाशविक सुख की यही सीमा है। शास्त्रों के आधार पर पशुओं से मानवता को, उच्चतम स्थान प्राप्त करने के लिए एक ही आधार है जिसे हम धर्म कहते हैं। आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन तो पशुओं और मनुष्यों में समान रूप से विद्यमान हैं। पर मानव में एक धर्म ही ऐसा है जो पशुओं में नहीं पाया जाता।

विचारो ! अन्य सभी योनियों में तो केवल मन और इंद्रियों के के ही क्षणिक सुख भरे पड़े हैं परन्तु मनुष्य शरीर पा करके बौद्धिक सुख, अर्थात् 'ज्ञान' को प्राप्त नहीं किया जो कि आनन्द का मूल है तो अन्र योनियों में 'अज्ञान' जो दुःखों का मूल है, वही मिलेगा। श्री तुलसीदास के कथनानुसार जो, सुर, दुर्लभ इस नर-तन को पाकर, जो कि जीव को बड़े भाग्य से प्राप्त होता है पुनः विषय भोगों में लगता है, उसके लिए कहा है :—

"नर तन पाय, विषय मन देहीं।
पलटि सुधा से शठ विष लेहीं॥"

ऐसे नर पुनः सुधा को त्याग कर विषय रूपी विष को लेते हैं।

इस प्रकार के लोग मनुष्य के रूप में पशु तुल्य हैं, जिनका सम्पूर्ण जीवन खाने-पीने तथा सोने में ही व्यतीत होता है। जबकि इस सुर, नर-दुर्लभ मानव-जीवन का लक्ष्य, इस क्षणिक पाशविक आनन्द को विषवत् त्याग, आत्मिक आनन्द को प्राप्त कर परमानन्द में मिलना है। इसके विषय में तुलसीदास जी कथन है :—

"यह तनु कर फल विषय न भाई।
स्वर्गहु अल्प, अन्त दुखदाई।"

सज्जनों! तुम्हारे जीवन का लक्ष्य विषय-भोग नहीं, यह तो पशुओं का लक्ष्य है। उस प्रभु ने करुणा करके तो तुम्हें पशुओं से भिन्न व उपयोगी इन्द्रिय 'बुद्धि' दी है, उसका उपयोग यही है कि बुद्धि से ज्ञान प्राप्त कर अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करो।

इस प्रकार हमें ज्ञात हुआ कि यह विषयानन्द पाशविक है। यह मानवता का रास्ता नहीं, इस रास्ते से तो पशु चला करते हैं। विषयानंद दुःख का मूल है, कष्टकारक है, अतः इसे विषवत् त्याग देना चाहिए।

अब विषयानन्द के बाद दूसरा आनन्द है, आत्मानन्द। इस आत्मानन्द का शाब्दिक अर्थ है स्व अर्थात् अपने आत्मा का आनन्द। यह सिद्ध हो चुका है कि यह जीव आनन्दकन्द, सच्चिदानन्द का अंश है और जो गुण अंशी में होते हैं वे ही अंश में भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए जो गुण सागर में विद्यमान हैं, वे ही गुण सागर की एक बूंद में भी मिलेंगे। जीव को जो भौतिक पदार्थों में सुख जान पड़ता है, वह सुख वास्तव में पदार्थों का नहीं अपितु वह हमारे आत्मिक आनन्द का ही प्रतिबिम्ब होता है, जो भौतिक पदार्थों में मन की एकाग्रता के के कारण आभासित होता है, हमें भ्रमवश वह सुख पदार्थों का जान पड़ता है।

उदाहरण के लिए जिस प्रकार एक अज्ञानी कुत्ता हड्डी के टुकड़े में रक्त की मिथ्या कल्पना करके भ्रमवश उसे चूसता रहता है, जबकि हड्डी में कल्पित रक्त उसी के जबड़ों द्वारा निकला हुआ होता है। कुत्ता उसको चूसकर सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार जैसे सूर्य की किरणों के चन्द्रमा पर पड़ने से चन्द्रमा आलोक-सम्पन्न जान पड़ता है, किन्तु वस्तुतः चन्द्रमा का अपना निजी कोई आलोक नहीं होता। ठीक इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा की आनन्द द्वारा विषय पर पड़ने से ही विषय आनन्दमय जानपड़ता है। वास्तव में विषय की कोई अपनी आनन्द-सत्ता नहीं होती। उदाहरण के लिए आप किसी भीषण रोग से पीड़ित हैं, उस समय यदि आपके सामने संसार के सम्पूर्ण सुख-भोग के विषय उपस्थित कर दिए जाएँ कि अब इनको भोगकर आनन्द लीजिए, तो आप अनुभव करेंगे कि जिन पदार्थों को रोगी होने से पूर्व भोगकर हम सुख का अनुभव करते थे आज वे ही पदार्थ हमारे सामने हैं, लेकिन वे हमें सुख देने में असमर्थ हैं अर्थात् हमको उनमें सुख प्रतीत नहीं होता। क्यों? इसलिये कि सुख या आनन्द उनके अन्दर होता तो, हमें जैसे पहले मिलता था, अब भी मिलना चाहिए था लेकिन जब वह उनमें है ही नहीं तो मिलेगा क्या ? किसी ने ठीक ही लिखा है कि बिना आत्मानंद के सब आनन्द मिथ्या हैं :—

"कोई अकल मस्त कोई सकल मस्त कोई चंचलता कोई हाँसी में।
बिनु खुदमस्ती बिन और मस्त, सब फँसे अविद्या फाँसी में॥"

वास्तव में जो आत्मानंद को छोड़कर विषयानन्द में पड़ा हुआ है, वह अविद्या की फाँसी में फँसा हुआ है। इस कहावत के अनुसार—"मन चंगा तो सब चंगा ही चंगा।" हमारे मन में खुशी है तभी संसार के पदार्थ सुखकर प्रतीत होते हैं। अगर हमारे मन में खुशी

नहीं तो संसार का कोई भी पदार्थ सुखकर प्रतीत न होगा। अतः आप समझ गये होंगे कि पदार्थों में जो हमें आनन्द (सुख) प्रतीत होता है, वह आत्मानन्द का ही प्रतिबिम्बित रूप है।

हम देखते हैं कि हमारा मन बाहरी पदार्थों में जब तक स्थिर रहता है तब तक हमें मन की विषयगत एकाग्रता के कारण प्राप्त सुख, पदार्थों का जान पड़ता है। लेकिन जिस प्रकार स्थिर पानी में हमारा प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है, ठीक उसी प्रकार हमारा मन बाहरी पदार्थों में एकाग्र होने पर अपनी आत्मा का प्रतिबिम्ब इन विषयों पर डालता है। इस प्रकार मन की एकाग्रता होने पर जीवात्मा जितनी देर तक अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, उतनी ही देर तक वह आत्मानन्द की अनुभूति करता है। लेकिन यह विषयगत मन को एकाग्रता द्वारा प्राप्त सुख क्षणिक होता है क्योंकि यह भौतिक पदार्थ स्वयं भी तो क्षणभंगुर हैं, तथा हमारा यह मन भी तो चंचल होने के नाते कुछ ही समय के लिए एक पदार्थ में ठहर पाता है। मन की एकाग्रता द्वारा प्राप्त इस विषय-सुख की उपमा दाद या खाज के साथ दी जा सकती है। जिस प्रकार दाद या खाज को खुजाते समय तो उसमें सुख मिलता है किन्तु अन्त में खुजाना छोड़ने पर उसमें जलन पड़ने पर मनुष्य दुख से व्याकुल हो जाता है, ठीक उसी प्रकार मन जब तक किसी विषय पर एकाग्र रहता है, तब तक उससे सुख मिलता है लेकिन मन की एकाग्रता हटने पर या वस्तु से वियोग होने पर उससे हमें दुःख मिलता है।

इस प्रकार सर्वप्रथम, वस्तु-मिलन होने पर मनुष्य विषयों की तरफ आसक्त हो जाता है किन्तु अन्त में उसके (वस्तु के) वियोग में दुःख मिलने पर जीव उससे मुँह मोड़कर अन्य विषयों की ओर प्रवृत्त होता है, वहाँ भी जब शांति-सुख नहीं मिलती तब किसी अन्य

पदार्थ की ओर बढ़ता है। बस इसी प्रकार जीव आयुपर्यन्त कृत्रिम आनन्द के क्षेत्र में बन्दर की भाँति इस संसार रूपी वृक्ष की विषयभोग रूपी डालों पर इधर-उधर कूदता-फाँदता सुख के लिए भटकता रहता है। परिपूर्ण सुख अथवा अखण्ड सुख के न मिलने पर जीव की चंचलता नित्य प्रति बढ़ती ही जाती है।

सभी का यह नित्य प्रति का अनुभव है कि मनुष्य को जहाँ-जहाँ सुख का आभास होता है, उसका मन वहीं जाना पसन्द करता है। अधिकाँश लोगों की धारणा है कि मन स्वभावतः ही चंचल व इधर उधर-उधर भटकने वाला नहीं, बल्कि वह चंचल और भटकने वाला इस कारण से बना हुआ है कि जो विषय सुख उसे मिल रहा है, वह इतना और ऐसा नहीं कि उसमें मन स्थाई रूप से ठहर कर, सुख निरन्तर प्राप्त करता रहे। जितना थोड़ा सा सुख उसे विषयों में मिल जाता है उतनी देर तक के लिए वह उसमें बैठा रहता है या ठहरा रहता है। मधु मक्खी उड़ती रहती है इसलिये नहीं कि उड़ते रहना उसका स्वभाव है, बल्कि वह तो इसलिए उड़ती फिरती है कि कहीं किसी फूल में उसे पर्याप्त अखण्ड रस (मधु) मिले, जिससे कि वह सदा के लिए उसी में बैठी रहे।

ठीक इसी प्रकार यह मन तो युग-युग से स्थाई रूप से बैठने के लिए उस पदार्थ या स्थान की खोज में है कि जहाँ उसे बैठकर (ठहरकर) अखण्ड व नित्य सुख मिलता रहे। यह मन तो थोड़ी देर जाँच करने के लिए विषय रूपी फूल पर मधु रूपी सुख की प्राप्ति हेतु बैठ जाता है लेकिन पूर्णतः तृप्त न होकर पुनः अन्य विषय रूपी फूल पर चला जाता है। इसी प्रकार यह मन अनन्त काल से उस अखण्ड व स्थाई आनन्द मिलने के स्थान को खोज रहा है जहाँ से पूर्ण तृप्ति मिल सके। जब तक उसे वह स्थान मिलेगा नहीं तब तक इधर-उधर भटकता ही रहेगा।

अब निजानन्द के बाद तीसरा आनन्द हैं परमानन्द। बस यह परमानन्द ही समस्त सुखों की सीमा है। संसार अन्य सभी (विषयानन्द व निजानन्द) सुख इसी सीमा के अन्तर्गत हैं। मन का यह स्वभाव है कि व छोटे सुख से बड़े सुख की ओर चलता रहता है अगर इस अखण्ड व स्थाई सुख की चाह रखने वाले मन को इस परमानन्द स्वरूप ईश्वर से पूर्ण परिचय हो जाय तो निश्चय ही वह स्वाभाविक रूप से इन विषयक क्षणिक तुच्छ सुखो की बूँदों को त्याग देगा। जिस प्रकार एक व्यक्ति जो अत्यधिक प्यासा है और वह अपनी पिपासा को बूँद-बूँद कर टपकने वाले जल से बुझा रहा है अगर उसे कोई सज्जन एक अखण्ड बहने वाले स्रोत का पता बतादे तो वह उन तुच्छ व क्षणिक तृप्ति देने वाली पानी की बूँदों को तुरन्त त्याग कर उस अखण्ड झरने की शरण लेगा।

ठीक इसी प्रकार यह जीव जन्म-जन्मान्तरों से सुख व आनन्द का प्यासा है और वह अपनी इस पिपासा की शान्ति विषय रूपीजल से टपकने वाली तुच्छ एवं क्षणिकसुख रूपी जल की बूँदों से करता है। उसे इनसे क्षणिक सुख तो मिल जाता है लेकिन शान्ति व पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती जिस प्रकार एक प्यासा जिसे इच्छानुसार पानी मिल जाता है तब वह सुख और शान्ति का अनुभव करता है। क्योंकि प्यासे का लक्ष्य पानी नहीं बल्कि पानी से मिलने वाली तृप्ति शान्ति है। उसी प्रकार जीव मात्र का लक्ष्य सुख नहीं बल्कि सुख से मिलने वाली तृप्ति व शान्ति है। यह तृप्ति व शान्ति इन क्षणिक मिलने वाली विषय रूपी बूँदों में नहीं बल्कि यह तो उसे आनन्द व सुख के स्रोत मिलने पर ही होगी जिस प्रकार नदी समुद्र में आकर अपने चंचल स्वभाव को त्याग स्थिर हो जाती है उसी प्रकार जीव भी इस अखण्ड आनन्द के स्रोत को पाकर स्थिर हो जाता है।

भोग-लिप्त मानव—संसार में सदैव से इस सुख (आनन्द) प्राप्ति

की दो विरोधी भावनाएँ रही हैं। जिसमें प्रथम तो भौतिकवादी अर्थात् भोगबादी तथा दूसरी आध्यात्मिक अर्थात् भगवानवादी। मानव सदैव से इन दो शक्तियों का उपासक रहा है। प्रकृति (भोग) के उपासक को क्षणिक अवधि वाले सुख व अन्त में दुःख देने वाले सुख मिलते रहे हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर-उपासक पुरुष अखण्ड सुख का अनुभव कर ईश्वर में लीन हो जाता है।

अगर विचार-दृष्टि से देखा जाय तो भौतिक विज्ञान एवं उसके उपकरणों का भी लक्ष्य प्राणी मात्र के लिए सुख की ही उपलब्धि रहा है और प्राणी मात्र का सारा ज्ञान व अनेकानेक दर्शन शास्त्रों की रचना व ईश्वर उपासना आदि भी उस अनन्त सुख एवं शान्ति के लिये ही की जाती है। अध्यात्मवादियों तथा भौतिकवादियों के केवल सुख-प्राप्ति के साधनों में ही अन्तर दीख पड़ता है। लेकिन दोनों भिन्न-भिन्न रास्तों से चलकर भी एक ही लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हैं और दोनों का वह लक्ष्य है, दुःख से निवृत्ति का तथा अखण्ड सुख एवं शान्ति की प्राप्ति। जिसमें युगों से भौतिकवादी तो पानी को अर्थात् भौतिक पदार्थों को सुख अथवा आनन्द रूपी मक्खन की प्राप्ति के लिए मथ रहा है तथा दूसरा आध्यात्मवादी दूध को अर्थात् भगवान् को। उस आनन्द रूपी मक्खन को प्राप्त करने का अखण्ड पुरुषार्थ तो दोनों ही कर रहे हैं। लेकिन अंतर केवल इतना ही है कि अध्यात्म वादी जानता है कि मक्खन का वास पानी नहीं बल्कि दूध में है, अर्थात् सुख-शान्ति का वास भोगों में नहीं अपितु भगवान में है। इसके विपरीत भौतिक वादी समझता है कि मक्खन रूपी सुख भोगों में ही है, भगवान में नहीं।

आज संसार में यह प्रत्यक्ष देखने में आ रहा है कि अधिकांश व्यक्ति सुख और शान्ति की खोज में भोगों की ओर तीव्र गति से चले जा

रहे हैं। संग्रह, परिग्रह तथा फैशन का भूत उनके सिर पर सवार है। अमुक वस्तु जुटाओ उससे सुख मिलेगा, इस वस्तु का संग्रह करो, इससे सुख मिलेगा बस इसी आशा रूपी रथ में सवार होकर भोगों में सुख और शान्ति की भावना के लिए आज का मानव इस संसार रूपी मार्ग में बिना कुछ सोचे समझे सरपट भागा चला जा रहा है। आज अधिकांश लोगों की गलत धारणा बन चुकी है कि जिसके पास जितनी अधिक भोग-सामग्री है, वह व्यक्ति इस संसार में उतना ही सुखी है। बस बसो मिथ्या-भावना को लेकर मानव अपनी इच्छाओं के घोड़ों को मनमाने रास्ते पर दौड़ाते हुए मानव मर्यादित भोग सीमाओं को लाँघ कर पशुता के क्षेत्र की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

आज का भोग-विलासी मानव विषय रूपी मदिरा को पीकर उसके नशे में इतना चूर है कि उसे अपना हित तथा अहित भी नहीं सूझता। उसे विषय रूपी विष ने अचेत बना दिया है। जैसे बेहोशी में चेतना अर्थात् ज्ञान नष्ट हो जाता है और मनुष्य नहीं जानता कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए, इसी प्रकार मानव भी इस विषय रूपी मदिरा को पीकर बेहोश हो स्वयं को तथा अपने कर्तव्य-पथ को भूल चुका है। लक्ष्य को भूलकर ही आज के मानव का रहन-सहन तथा आहार-विहार विलासपूर्ण व अमानवीय बन चुका है। वह अपने विलासी व भोगी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति-हेतु अमानवीय कर्मों को भी करता जा रहा है। आज के मानव की निरर्थक आवश्यकता इतनी बढ़ती जा रही है कि जिनकी पूर्ति के लिए वह रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह काम में लगा रहता है और जिसके परिणामस्वरूप वह अन्दर से चिन्ताओं के घुन द्वारा खोखला होता चला जा रहा है।

सज्जनों! यह भोग-विलास का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि इसकी पूर्ति आज तक कोई भी नहीं कर पाया है। यह भोग-विलास तो आग

के समान है तथा हमारी भोग-विलासी कामनायें इसमें आहुति का कार्य करती हैं। आग में घी डालने से जिस प्रकार आग समाप्त होने के बजाय बढ़ती ही जाती है उसी प्रकार भोगों की पूर्ति करने में संसार का सम्पूर्ण धन ही क्यों न खर्च कर दिया जाय तो भी तृप्ति नहीं मिलेगी ? हमारे धर्म-शास्त्रों ने भी यही प्रमाणित किया है :--

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

श्री तुलसीदास जी ने भी निम्नलिखित पद में इसी भाव को व्यक्त किया है :—

"बुझइ न काम अगिन, तुलसी जिमि विषय भोग बहु घी ते।
मन पछितै है अवसर बीते।"

सज्जनों ! इस अमूल्य मानव-जीवन को इन क्षणिक सुखों के लिए भोग रूपी अग्नि में न जलाओ। आखिर इस आग से कब तक खिलवाड़ करोगे। एक दिन तो यह भोगाग्नि अपना इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लेगी कि इसमें तुम्हारा शरीर कामनाओं की आहुति देता हुआ, दुर्बल तथा जीर्ण होकर. इस हवि कुण्ड में स्वयं अपनी ही आहुति देकर नष्ट हो जायगा। विचारो ! इस भोगाग्नि से खिलवाड़ करने करोड़ों आये और इसमें अपने जीवन की आहुति देकर चले गये। परन्तु यह भोगाग्नि फिर भी ज्यों की त्यों जल रही है।

सज्जनों ! क्या तुम्हें विदित नहीं कि जिन भोगों को तुम भोग रहे हो वे तुम्हारे जीवन को क्षय कर रहे हैं अर्थात् इन भोगों से तुम्हारी आयु नित्यप्रति क्षीण होती जा रही है। यह भोग जो तुम्हें आज सुखकर प्रतीत हो रहे हैं, इनको भोगते-भोगते जब तुम्हारी इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जायेंगीं और शरीर भी क्षीण हो जायगा तब ये

भोग दुःख के रूप में बदल जायेंगे अर्थात् अपने यथार्थ रूप (दुःख) में प्रकट होंगे। सज्जनों ! क्या तुम नहीं जानते कि यह मनुष्याहारी भोग मानव शरीरों का रुचि पूर्वक नित्यप्रति भोग लगा रहे हैं। तेरे देखते-देखते न जाने कितनों को खा चुके हैं, परन्तु आश्चर्य है कि तू मनुष्य होकर भी अपना आहार करने वाले भोगों को न पहिचान कर स्वयं उनकी ओर भागा जा रहा है, जब कि बकरा पशु होकर भी अपने कातिल को जान कर उससे दूर भागता है। जिस प्रकार पतंगा अपने काल-दीपक को काल न जानकर उसकी ओर बड़ी खुशी में जाकर अपने जीवन को समाप्त कर देता है उसी प्रकार ऐ इन्सान ! तू भी भोगों को अपना काल न समझ कर इन्हें अपने सुख व शान्ति का साधन समझ कर एक दिन भोग-शिखा पर जल कर अपने जीवन का अन्त कर देगा।

सज्जनों ! तुम अभी क्यों नहीं विचारते कि एक दिन इन भोगों द्वारा तुम्हारा यह नूतन हृष्ट-पुष्ट शरीर जीर्ण व क्षीण हो जायगा। फिर तुम्हारे सामने सब भोग होंगे और तुम्हारी दुर्बलता पर अट्टहास करेंगे। तुम्हारे शरीर की शक्ति नष्ट होने पर तुम्हारे भोग-युक्त अभिमान को चूर करके तुमको लक्ष्य करके कहेंगे "ऐ भोगों को भोगने वाले अभिमानी मानव ! आओ तो, अब हमें भोगो। अब क्यों नहीं आते ? हमें भोगने की इच्छा रखने वालो जरा अपनी दशा को तो देखो ! तुमने हमें भोगा या हमने तुम्हें भोगा। रे पागल मानव ! हम भोग तो सदैव से नूतन रहे हैं। तुम्हारे जैसे लाखों परवाने आये और अपना अभिमान चूर कर स्वयं को मिटाकर चले गये ! परम्परा से चले आ रहे हमारे स्वभाव को क्या तुमने अब तक भी नहीं पहिचाना ? तुम्हारे ही अपने घर में तुम्हारे ही अपने पारिवारिक लोगों ने हमें भोगकर जो नतीजा पाया क्या उससे तुम्हारी आखें नहीं खुलीं ? क्या अतिशय भोगी राजा श्री भर्तृहरिजी का अपना भोगानुभव तुमने

नहीं सुना—

"भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तः वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

अर्थात्—भोगों को हमने नहीं भोगा बल्कि हम ही भोगों द्वारा भोगे गये। तप हमने नहीं तपा, बल्कि हम ही तपों द्वारा तपे गये। समय नहीं गया बल्कि हम ही चले गये तथा यह तृष्णा जीर्ण नहीं हुई बल्कि हम जीर्ण हो गये।

सज्जनों! इस भोग-मार्ग पर गये हुए प्रत्येक व्यक्ति को रोग व शोक का शिकार बनकर पुनः पश्चात्ताप करके वापिस लौटना होता है। सज्जनों! अगर तुम इन विषय भोगों के मार्ग पर चलने से पूर्व आज विचार नहीं करोगे तो एक दिन वह आने वाला है जब इस पर विचार किये बिना तुम्हारी सुख-शाँति तुमसे कोसों दूर हो जायगी। फिर तुम्हें सुख व शान्ति के लिए बड़ी से बड़ी कीमत देनी होगी। तुम भोगों में आखिर मौज कब तक लोगे? ये भोग तो रोग और शोकों के घर हैं, यहाँ एक न एक दिन तुम्हें रोगी, शोकी होकर अवश्य लौटना होगा। सज्जनों! आप अपने रहन-सहन के दायरे को सीमित कर अपने इच्छा रूपी घोड़ों को रोकने की कोशिश करें, नहीं तो निकट भविष्य में वह समय आने वाला है जबकि प्रकृति आपकी इस मनमानी चाल पर आपको दण्डित करेगी उस समय आपका सब नशा चूर हो जायगा। इतिहास साक्षी है कि जब-जब मानव-समाज अपने कर्त्तव्य को छोड़कर अकर्त्तव्य-पथ पर चला है, धर्म को छोड़कर अधर्म की ओर चला है या जब-जब उसने प्रकृति द्वारा मानव-निर्धारित नियमों का उल्लंघन किया है तब-तब प्रकृति का हस्तक्षेप होता रहा है। तब पुनः मानव ने अपने कर्त्तव्य-पथ को अपनाया है।

सज्जनों ! इस मानवीय शक्ति को भोगों के क्षणिक स्वाद के लिए व्यर्थ में क्यों नष्ट कर रहे हो ? भोगों में नष्ट की हुई शक्ति पर तुम्हें एक न एक दिन अवश्यमेव पछताना होगा। इस मानव रूपी अमूल्य वस्तु का पता तुम्हें तब लगेगा जब तुम्हारे पास पछतावे के अलावा कुछ भी शेष न होगा। इस संसार और इसके भोग जब तुम्हारे अन्दर के जीवन-रस को चूस कर समाप्त कर देंगे, तब तुम्हारा यहाँ कोई भी न होगा। यह संसार तो स्वार्थी है। यह तुम्हारे पास रहने वाले इस (शरीर, धन, धान्य, ज्ञान आदि) का ग्राहक है। अपने स्वार्थ को पूरा करके फिर कोई भी तुम्हारी बात नहीं पूछेगा। तब तुम्हें निम्नलिखित पंक्तियों का सही अर्थ समझ में आ जायेगा—

"जगत में कौन किसी का मीत।
स्वारथ के देखे सब साथी, झठी जग की प्रीत।"

सज्जनों ! तुम्हारे पास विवेक का बल है, उससे कुछ भी तो काम लो, और इस अमूल्य मानव-जीवन को पवित्र बनाने का कुछ यत्न करलो। यह सुनहरा समय (मानव-जीवन) तुम्हें फिर न मिलेगा। छोड़ दे इस नशे और आराम की जिन्दगी को जो तुम्हें दुर्बल और आलसी बना रही है। जीवन का एक बहुत बड़ा भाग तुम, ऐश और आराम में गँवा चुके हो। अब तो छोड़ दो इस पाशविक भोगमय जीवन को और जीवन के रहस्य (स्वयं) को समझने का यत्न कर लो। विचारो ! तुम्हारा जीवन रूपी सूर्य प्रतिक्षण अस्ताचल की ओर ढलता जा रहा है। किसी कवि ने अपने शब्दों में इस भाव को इस प्रकार दर्शाया है—

जिन्दगी के दिन गुजरते जा रहे हैं।
मौत के नजदीक दिन अब आ रहे हैं॥

सज्जनों ! तुम यहाँ संसार में कुछ कमाने के लिए आये थे, न कि मूल गँवाने के लिए। तुम मनुष्य होकर दानव क्यों बनते जा रहे हो ? क्या यही तुम्हारे जीवन का उद्देश्य था जिसको लेकर तुम इस संसार में आये थे नहीं ! भाई तुम भूल चुके हो, अभी तुम्हारी मंजिल वहुत दूर है।

इस बात को अनादि काल से ऋषि, मुनि, योगी तथा धर्मशास्त्र डंके की चोट चिल्ला-चिल्ला कर कहते चले आ रहे हैं कि "हे मनुष्य ! इन सांसारिक पदार्थों में सुख, शान्ति कहां, यह सब तो भ्रम है, मृगमरीचिका है। सोचो तो भला ! मृगमरीचिका से भी कभी किसी की प्यास बुझी है। परन्तु इन नादान मृग-शावकों को कौन समझाये ? इनको कोई लाख समझाये किन्तु इनकी बुद्धि में जो भ्रम उत्पन्न हो गया है, उसके कारण यह तो आग से ही प्यास बुझाने पर तुले हुए हैं। इनकी हालत तो ठीक उन्हीं मृगों की भाँति है जो बुरी तरह से लू-लपटों में झुलसते हुए भी मृग मरीचिका की आशा से तृष्णा-अग्नि में जलते हुए बुरी तरह से भागे जा रहे हैं।

सज्जनों ! विचारो सुख, तृप्ति तथा सन्तोष का एक मात्र केन्द्र तो तुम्हारा ही अपना अन्तःकरण है। उस सन्तोष रूपी जल से ही कामनाओं की अग्नि शान्ति होती है। इस बात का प्रमाण हमारे धर्म-शास्त्र में मिलता है। श्री गोस्वामी तुलसीदास जी लिखते हैं:-

बिन सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥

अर्थात् :—बिना सन्तोष-वृत्ति उत्पन्न हुए कामनाओं का या भोग इच्छाओं का नाश नहीं हो सकता और जब तक कामनाओं का नाश नहीं होगा तब तक सुख और शान्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं। धर्म शास्त्रों में—'सन्तोषः परमो लाभः।' अर्थात् सन्तोष को ही परम लाभ

बतलाया है। इसके विषय में कविवर रहीम का कथन है :—

"गो धन, गज धन, बाजि धन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥"

अर्थात् :–संसार में जितने भी धन हैं सब में श्रेष्ठ धन (सन्तोष) ही है क्योंकि इस धन के प्राप्त होने पर अन्य धन मिट्टी के समान हैं। इस 'सन्तोष के विषय एक लोकोक्ति भी है "सन्तोषी महासुखी" वास्तव में सुख व शान्ति का मार्ग तो सन्तोष ही है। यह सन्तोष बाहर के पदार्थों, रंग-विरंगे कपड़ों, सुस्वाद भोजन व सिनेमा आदि आदि या धन्य-धान्य में नहीं मिलेगा बल्कि सुख-सन्तोष का स्रोत तो तुम्हारे ही अन्तःकरण में प्रवाहित हो रहा है। बाहर तो तुम्हें भासित हो रहा है तुम्हारी स्थिति तो उस मृग की तरह है जो कस्तूरी को आपनी नाभि में रखके भी भ्रमवश उसे बाहर खोजता फिरता है। सन्त कबीर ने कहा है—

"कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूँढ़े वन माँहि।
ऐसे घटि-घटि राम हैं दुनियाँ देखै नाँहि॥"

सज्जनों ! सुख-शान्ति तो तुम्हारा जन्म-सिद्ध अधिकार था। जिस सुख व शान्ति को तुमने जन्म-जन्मान्तरों से खोजा है वह तो तुम्हारी ही अपनी अन्तरात्मा का गुण है जो नित्य आनन्दस्वरूप है। किसी कवि ने भी कहा है—

आप भुलाना आपमें, बँधा आप ही आप।
जाको तू खोजन फिरै, सो तू आप ही आप॥

पूर्व कथन से पाठकगण भली प्रकार समझ गये होंगे कि प्राणी संसार में नाना प्रकार के कर्मों को करता हुआ, ज्ञात में या अज्ञात

रूप में स्वाभाविक रूप से सुख आनन्द अथवा शान्ति की ओर ही गतिशील है और इस संसार में मुख्यतः एक ही आनन्द की दो धारायें जिसमें प्रथम विषयानन्द तथा दूसरी निजानन्द। यह सिद्ध हो चुका हैं कि विषयानन्द पूर्णतः मिथ्या । इसमें आनन्द है नहीं पर भासित होता है और जो भासित होता हैं वह निजानन्द का ही प्रतिबिम्ब है जो मन की विषयगत एकाग्रता होने पर पड़ता है। और यह निजानन्द उस परमानन्द रूपी सागर (ईश्वर) की ही एक बूँद है, जो नित्य आनन्दमय है।

इस प्रकार पूर्णतः अखण्ड आनन्द की प्राप्ति तो उस आनन्दकन्द परमेश्वर से एकता (योग) स्थापित करने पर ही मिलेगी लेकिन इस संसार की तो उल्टी ही गति है जो भगवान को त्याग कर भोगों की ओर दौड़ रहे हैं। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

"प्रभुता को ही जग भजै, प्रभु को भजै न कोय।
जो कोई प्रभु को भजै, प्रभुता दासी होय॥"

सज्जनों ! उस प्रभु भगवान के मिलने पर ही उसकी प्रभुता अर्थात् भोग तो तुम्हें स्वयं स्वाभाविक रूप से मिल ही जायेंगे। इसलिए अपने जीवन का लक्ष्य भोगों को न बनाकर भोंगों के स्वामी भगवान को बनाओ तभी तुम्हें यह भोग दुःख न देकर सुख के कारण बन सकेंगे। क्योंकि धर्मशास्त्रों में विषय भोग रूप संसार को अथवा माया को भगवान की पत्नी बताया गया है जो कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण संसार की जननी होने के नाते मातृ-तुल्य है। इस प्रकार संसार के सभी जीव-जन्तु प्रकृति माता के पुत्र हुए और भगवान हम सबका परम पिता हुआ। तो भला। पुत्र माँ का भोग करे यह कौन स्वीकार कर सकेगी ? बल्कि पुत्र अपने इस अनधिकार दुष्कर्म के लिए माता द्वारा दण्ड का भागी होता है। इसके विपरीत यदि पुत्र अपने

परम पिता को अपनी सेवाओं से प्रसन्न कर लेता है तो यह प्रकृति माता भी उसे स्नेह से अपने स्तन रूपी भोगों का सेवन कराती है।

सज्जनों ! तुम तो सागर की मछली हो। तुम्हें पूर्ण आनन्द तो सागर में ही जाकर मिल सकेगा। जिस प्रकार कि सागर की मछली को अगर किसी गड्डे के पानी में डाल दिया जाय तो वह उस-में केवल जीवित रहने का ही सुख उठा सकती है। उसमें उसे अधिक अंश में तो दुःख ही मिलेगा। इसी प्रकार जीव रूपी मछली के लिए पशु योनि तो गड्ढे की ही तरह है। जिसमें जीवित रहने का ही सुख पाता है। यदि उस गड्ढे की मछली को किसी बड़े तालाब में उठाकर डाल दिया जाय तो उसे पहले की अपेक्षा अधिक सुख मिलेगा लेकिन उसमें भी उसे पूर्ण सुख की प्राप्ति नहीं होगी। उसी प्रकार मानव-योनि जीव रूपी मछली के लिए तालाब की भाँति है, जिसमें मनुष्य को सुख तो मिलता है लेकिन यह शुद्ध व पूर्ण सुख नहीं बल्कि आंशिक रूप में ही मिलता है। इसमें किसी अंश तक दुःख मिश्रित रहता है। अब उसी तालाब की मछली को यदि समुद्र में डाल दिया जाय जहाँ कि वह पहले रहती थी तो वह पूर्णतः सुख का अनुभव करेगी यहाँ उसको लेश मात्र भी दुःख नहीं होगा। ठीक इसी प्रकार जीव को भी पूर्ण आनन्द की प्राप्ति तो परमात्मा से मिलकर ही होगी। भोगों में नहीं। इसलिए :—

जो तू चाहत सुख सदा, चाहत निज कल्याण।
भोगों को तू त्यागकर, शरण आव भगवान॥

●()●

❀ रोग ❀

स्वास्थ्य का महत्व :—

हमने भोग के प्रकरण में इस बात को सिद्ध किया था कि मानव जीवन का लक्ष्य अपनी आत्मिक, मानसिक, बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों का विकास करते हुए आत्मसाक्षात्कार द्वारा परम-आत्मा तक पहुँचना है। परन्तु जो शरीर मन, बुद्धि तथा आत्मा का निवास-स्थान व आत्म भगवान का साक्षात् मन्दिर है यदि वह बलवान और स्वस्थ नहीं तो न हम अपनी शक्तियों का ही विकास कर पायेंगे और न अपने आत्म-स्वरूप भगवान का साक्षात्कार कर परमात्मा से ही मिल पायेंगे। उपनिषद् के इस वाक्य के अनुसार—

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"

अर्थात्—यह आत्मा बलहीन पुरुष को प्राप्त नहीं होता और इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण संसार में देखने में भी मिलते हैं कि आत्म-विकास स्वस्थ तथा बलवान शरीर में ही हुआ है, रोगी दुर्बल शरीर में नहीं। मानव-जीवन का लक्ष्य जो अपने जीवन को सुखमय व शक्ति-सम्पन्न बनाना है उस उद्देश्य की पूर्ति तो हमारे शरीर की नीरोगता व सबलता पर ही निर्भर है। इस शरीर की महानता का वर्णन विद्वज्जनों ने इस प्रकार किया है—

आयतनं सर्व विद्यानां मूलं धर्मार्थ काममोक्षाणाम ।
प्रेयः किमन्यत् शरीरमजरामरम् विहायैकम् ॥

अर्थात—जो शरीर सम्पूर्ण विद्याओं तथा शुभ गुणों का आधार है। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति का मूल कारण है, उस शरीर की सदा युवावस्था और चिरायु अवस्था से अधिक प्रिय वस्तु मनुष्यों के लिए और क्या होगी ? अतः इस लोक और परलोक को शाँत व सुखी बनाने का यदि कोई मुख्य व उत्तम साधन है तो वह है शारीरिक आरोग्यता। इसीलिए शरीर शास्त्र के आचार्यों ने ठीक ही कहा है—

"धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम् ॥"

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जो कि मानव-जीवन रूपी कल्प बृक्ष के चार मधुर फल हैं इनकी प्राप्ति का यदि कोई श्रेष्ठ तथा मुख्य साधन है तो वह है शारीरिक आरोग्यता। आरोग्य के बिना कोई भी इन चारों से सुख व शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण हमारे आचार्यों ने शरीर के स्वास्थ्य पर बहुत बल दिया है। महर्षि चरक तो यहाँ तक कहते हैं—

सर्वमन्यत् परित्यज्य शरीरमनुपालयेत् ।
तदऽभावेहि भावानां सर्वाभावः शरीरिणाम् ॥

अर्थात्—मनुष्य को अन्य सब काम छोड़कर, पहले अपने शरीर की सम्भाल करनी चाहिए क्योंकि अन्य सब धन-सम्पत्ति आदि पदार्थों तथा सुख साधनों के होने पर भी शरीर के स्वास्थ्य के बिना वे सब व्यर्थ हैं।

अपने जीवन को धार्मिक व सुखमय बनाने का एक मात्र शरीर ही मुख्य साधन है। किसी महापुरुष ने कहा भी है—

"शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम् ॥"

संसार के सम्पूर्ण सुखों में प्राथमिकता स्वास्थ्य सुख में ही मिली है। क्योंकि सम्पूर्ण सुखों का आधार यह शरीर ही है जब नींव ही कमजोर है तो भवन-निर्माण किस पर होगा अर्थात् जब शरीर ही स्वस्थ्य नहीं तो अन्य सुख जो शरीर पर आधारित हैं किस प्रकार टिकेंगे। इसका प्रमाण यह है लोकोक्ति है।

पहला सुक्ख निरोगी काया।
ता पीछे पल्ले ही माया॥

सभी के कहने का भाव एक ही है कि सुख शान्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति की प्रथम तथा मुख्य सीढ़ी शरीर का स्वास्थ्य ही है। स्वास्थ्य की महत्ता को किसी कवि ने अच्छी प्रकार दर्शाया है—

जितने लोग महान बने हैं सबका यही वचन है।
इस वसुधा पर स्वास्थ्य हमारा सबसे सुन्दर धन है॥
जिसने खोया स्वास्थ्य भला वह कैसे सुख पावेगा।
लेकर क्षीण शरीर नहीं वह कुछ भी कर पावेगा।
स्वास्थ्य हँसी, आशा और मस्ती सुख की यह परिभाषा॥
दुख क्या है भय, रोग, उदासी विभ्रम क्लांति निराशा।
जीवन का सर्वस्व हमारा स्वास्थ्य सुखों का एता।
रोग प्रकृति का दुर्वह लाँछन जड़ता का विक्रेता॥
स्वस्थ व्यक्ति से उत्तम रचना कोई नहीं भुवन में।
सुख उसका अधिकार रहे, वह मरु, या नन्दन वन में॥

उपर्युक्त कथनों से पाठक भली प्रकार समझ गये होंगे कि स्वास्थ्य, मानव जीवन के मूल उद्देश्य सुख व शान्ति प्राप्ति का प्रधान साधन

है। इसलिए सुख-शान्ति चाहने वाले प्रत्येक प्राणी के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्णतः अपने को स्वस्थ रखे।

स्वास्थ्य का स्वरूप—

'स्व' अर्थात् शरीर, मन तथा आत्मा का अपने वास्तविक स्वरूप में ही 'स्थ' अर्थात् "स्थित" रहने का नाम स्वास्थ्य है। इसके विषय में आचार्य सुश्रुत ने लिखा है—

"सम दोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेद्रियमनाः स्वास्थ्य इत्यभिधीयते॥

अर्थात्—हमारा स्वास्थ अथवा आरोग्य की सीमा में आत्मा, प्राण, मन, अन्तःकरण तथा शरीर की प्रसन्नता का समावेश है। मापदण्ड की इन तीनों (शारीरिक, मानसिक, व नैतिक) कसौटियों पर जो खरा साबित उतरता है वही पूर्ण स्वस्थ माना जाता है इनमें से एक की भी कमी उसके अस्वस्थ होने की सूचक है। अब संक्षेप में इन तीनों को समझ लिया जाय।

१—शारीरिक स्वास्थ्य—

शारीरिक स्वास्थ्य का मतलब है कि शरीरस्थ धातुओं का साम्य अवस्था में रहना अर्थात् बात, पित्त तथा कफ की समानता। इनकी असमानता ही रोग है, शारीरिक स्वास्थ्य का आधार है, शुद्ध व सात्विक आहार। व्यावहारिक-सिद्धि हस्तगत करने के लिये मनुष्य का शरीर से स्वस्थ रहना अनिवार्य है।

२—मानसिक स्वास्थ्य—

मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ है चित्त की समताअवस्था अर्थात् सत, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था। इनकी असमा-

नता से ही मानसिक रोग उत्पन्न होते हैं। मानसिक स्वास्थ्य का आधार, शुद्ध सात्विक विचारों का मनन व श्रवण है। मानसिक स्वास्थ्य मनोजगत की गुप्त अद्भुत शक्तियों की जागृति के लिए परम आवश्यक है।

३—नैतिक स्वास्थ्य—

नैतिक स्वास्थ्य का अर्थ है आत्म-शक्ति को जाग्रत करना। नैतिक स्वास्थ्य स्वार्थ तथा कुत्सित भावनाओं का उन्मूलन कर व्यक्ति को समष्टि की व्यापकता प्रदान करने के लिये परमावश्यक है।

मनुष्य के अन्दर यह तीनों ही शक्ति के केन्द्र हैं, जिनको क्रमशः शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति व आत्मिक शक्ति कहते हैं। शारीरिक शक्ति का विकास पशुओं में, मानसिक शक्ति का विकास मनुष्यों में तथा आत्मिक शक्ति का विकास देवताओं में देखने में आता है। दैवीय विधान की ओर से मनुष्य को वे अधिकार प्राप्त हैं, जिनको व्यवहार में लाने पर मनुष्य तीनों शक्तियों को प्राप्त कर सकता है। इन तीनों प्रकार की शक्तियों में आत्मिक शक्ति ही समस्त शक्तियों का प्रमुख केन्द्र है। इस शक्ति को प्राप्त कर लेने पर अन्य शक्तियाँ स्वतः ही जागृत हो जाती हैं।

शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्ति व स्वास्थ्य के लिए तीन प्रकार का ही आहार शास्त्रों में बतलाया गया है १—स्थूल शरीर का आहार है अन्न २—सूक्ष्म शरीर अथवा मानसिक शरीर का आहार है बिचार तथा कारण शरीर या आत्मा का आहार है आत्म-चिंतन, प्रणवादि ईश्वर के पवित्र नामों का चिन्तन करना। अब संक्षेप में इन तीनों शरीरों को शक्ति-सम्पन्न एवं स्वथ्य रखने के विषय पर प्रकाश डालेंगे।

१—शारीरिक स्वास्थ्य :—

हमारी शारीरिक उन्नति व शरीर को स्वस्थ रखने के मुख्यतः दो साधन हैं। जिसमें १-आहार और २-विहार। आहार और विहार उचित न होने के कारण ही यह हमारा स्थूल शरीर अस्वस्थ तथा दुर्बल रहा करता है। १-आहार अथवा भोजन मुख्यतः तीन प्रकार का होता है। १-सतोगुणी २-रजोगुणी ३-तमोगुणी। जो मनुष्य या जीव जैसे अन्न का सेवन करता है उसके शरीर व मन पर उसका वैसा ही प्रभाव व उसकी प्रकृति वैसी ही बनती है। आचार्यों ने अन्न और मन का अभेद सम्बन्ध वतलाया है।

"यथा अन्नः तथा मनः" अर्थात् जैसा अन्न होता है वैसा ही हमारा मन तथा मन में उत्पन्न होने वाले संकल्प-विकल्प अथवा विचार होते हैं। अन्न के विषय में 'ब्रह्म' उपनाम के प्रख्यात कवि ने बहुत मार्मिक भावों को दर्शाया है।

अन्न ही बनावे मन, मन जैसी इन्द्रियाँ हों।
इन्द्रियों से कर्म, कर्म भोग भुगवाते हैं॥
अन्न ही से वीर क्लीब, क्लीब वीर होत देखे।
अन्न के प्रताप भोगी, रोगी बन जाते हैं॥
अन्न ही के दूषण से तामसी ले जन्म जीव।
अन्न की पवित्रता से भोगी, योगी बन जाते हैं॥
मृत्यु लोक से है 'ब्रह्म' मोक्ष और बन्धन का।
वेद आदि मूल तत्व अन्न ही बताते हैं॥

इन तीनों प्रकार के अन्नों का प्रभाव शरीर और मन पर पूरी-पूरी तरह पड़ता है। जो व्यक्ति शुद्ध तथा सात्त्विक कमाई का अन्न ग्रहण करता है उसका शरीर सदैव हृष्ट-पुष्ट व कान्तिवान

होता है तथा उसका मन भी शुद्ध पवित्र, दैवीय विचारों से व्याप्त रहता है। सात्त्विक भोजन वही कहलाता है जो मनुष्य की नेक कमाई द्वारा ग्रहण किया जाय तथा जिसमें किसी प्रकार की अप्राकृतिक चीजों का मिश्रण न हो। यथार्थ रूप में तो प्रकृति द्वारा दिये गये फलादि हीं शुद्ध सात्त्विक आहार हैं। इसके बाद है राजसिक आहार। जो अन्न छल कपट व झूठ आदि की कमाई द्वारा ग्रहण होता है उसका प्रभाव शरीर व मन पर वैसा ही पड़ता है। इससे शरीर व मन दोनों ही चञ्चल होकर रोग व शोक ग्रस्त हो जाते हैं। राजसिक भोजन में अप्राकृतिक वस्तुओं का समावेश होता है, जिनमें चटपटी, खट्टी तथा मीठी वस्तुएँ होती हैं। इस प्रकार के खाद्य पदार्थों के सेवन या इस प्रकार का भोजन ग्रहण करने से मन अत्यधिक चञ्चल हो जाता है शरीर में नाना प्रकार की बीमारी लग जाती है। अब है तामसी भोजन, यह अति घृणित तथा निकृष्ट कमाई द्वारा उपार्जित धन से खरीदा अन्न होता है। जैसे चोरी तथा दूसरों को पीड़ा पहुँचा कर प्राप्त किये धन से ग्रहण अन्न होता है। इसका शरीर व मन पर बड़ा कुप्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के अन्न से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। तामसी भोजन में माँस, अण्डा, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थ आते हैं। सड़ा-गला बासी भोजन भी तमोगुणी भोजन होता है। इस प्रकार के भोजन का शरीर व मन पर कुप्रभाव पड़ता है। मनुष्य की वृत्तियाँ पूर्णतः तामसी हो जाती हैं, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जो मनुष्य को तम की ओर ले जाकर शीघ्र नष्ट कर देती है।

इसके अतिरिक्त आहार में मुख्यतः पाँच बातों का ध्यान रखना चाहिए। १—क्यों खायें २—कितना खायें ३—कब खायें ४—क्या खायें तथा पाँचवाँ कैसे खायें ? इस प्रकार हम देखते हैं कि आरोग्य के लिए व मन को अपने अनुकूल बनाने के लिए भोजन का विशेष महत्व है।

२–विहार—

शरीर को वलवान व निरोग बनाने का दूसरा साधन है बिहार। विहार का ठीक अर्थ है, व्यवहार अर्थात् हमारा सोना, उठना, बैठना चलना इत्यादि। हमारा व्यवहार उचित ढंग से होना चाहिए जिससे हमारा भोजन ठीक प्रकार से पचे तथा इसके साथ ही साथ हमारी दिनचर्या ऋतुचर्या उचित होनी चाहिये। प्रतिदिन नियमित रूप से उचित मात्रा में व्यायाम करना चाहिए।

आज हमने अपने सोने, उठने, बैठने आदि के ढंगों को बहुत बिगाड़ लिया है. जिसके फलस्वरूप अन्न पक्वाशय में जाकर सरलता पूर्वक व ठीक समय तक नहीं पचता। इसके सुधार के लिये हमें एक उचित नियमित दिनचर्या बनाकर उसी पर अपना जीवन निर्धारित रखना चाहिए। यों ऊट-पटाँग उठने-बैठने तथा सोने व खाने से हम अपने स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर सकते। हमारी दिनचर्या इस प्रकार होनी चाहिए–१ ब्रह्म मुहूर्त में उठना, इसके विषय में हमारे शरीर-शास्त्रियों का कथन है—

"ब्राह्म मुहूर्तें उत्तिष्ठेत् स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।"

अर्थात्––ब्राह्म मुहूर्त में उठने से स्वस्थ तथा दीर्घजीवी बना रहता है।

३–ऊषा-पान—

प्रातःकाल उठकर एक पाव जल नासिका या मुख मार्ग से अवश्य पीना चाहिए। इसके विषय में विद्वानों का कथन है—

"सर्वरोग विनाशाय निशान्ते तु पिबेज्जलम्।"

अर्थात्—समस्त रोगों के विनाश-हेतु प्रातःकाल जल पीना चाहिए। इससे मल-विसर्जन-क्रिया ठीक होती है तथा कब्ज दूर हो जाता है।

४—मल-विसर्जन—

ऊषा-पान के पश्चात् दूर खेतों में एकान्त स्थान में शौच के लिए जाना चाहिए। दाहिने पैर पर जोर देकर बैठने से शौच खुलकर व साफ आता है।

५—प्रातः भ्रमण—

प्रातःकाल का समय शारीरिक, मानसिक तथा आत्म-शक्ति के विकास-हेतु सर्वोत्कृष्ट है। प्रातःकालीन समय अमृत-बेला, ऊषाकाल या ब्राह्म मुहूर्त के नाम प्रसिद्ध है। चन्द्रमा द्वारा रात भर पृथ्वी तल पर अमृत झरता है, जो ओस कणों के रूप से होता है। प्रातःकालीन सूर्य में से ऊषा नामक किरणें निकलती हैं, जो अमृत का संचार करती हैं। इस समय को ब्रह्म-बेला अर्थात् ईश्वरीय समय इसलिए कहा गया है कि इस समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड दैवीय शक्तियों से व्याप्त रहता है। इस समय दिव्य सुगन्धियों को लेकर मन्द-मन्द गति से समीर बहता है जिसका शरीर पर स्पर्श होते ही शरीर में तेज, बल, आरोग्य स्फूर्ति और उत्साह का सञ्चार होता है। प्रातः भ्रमण में जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नियमित रूप से भ्रमण करने वाले व्यक्ति युवक बने रहते हैं तथा आलस्य दुर्बलता, चिन्ता आदि विकार उनके पास तक नहीं जाते। इसके विपरीत स्फूर्ति, प्रसन्नता, बल तथा सौन्दर्य की वृद्धि होती है।

६—दाँतों की सफाई—

दांत तथा जिव्हा की सफाई स्वास्थ्य रक्षा के लिए परमावश्यक है। इसके लिए बबूल की दातून करनी चाहिए जिससे दांत मजबूत हो जाते हैं।

७-नेतिक्रिया—

नेत्र, कर्ण, नजला तथा कफ विकार को दूर करने हेतु नेति व जल-नेति परम आवश्यक है।

८—स्नान—

प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व ठण्डे जल से स्नान करना अति लाभ-दायक है। स्नान से शरीर के स्वच्छ होने और आलस्य के दूर होने से चित्त में प्रसन्नता आती है।

९—ईश्वर-भक्ति—

स्नानादि के अनन्तर प्रभु का ध्यान करना मनुष्य को अपनी दिनचर्या का एक प्रमुख अंग बना लेना चाहिए। प्रभु-ध्यान एक प्रकार का आत्मभोजन ही है। इससे आत्मा स्वस्थ तथा बलवान होता है। इसके लिए प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम १॥ घण्टे तो ईश्वर का ध्यान करना ही चाहिए।

१०—व्यायाम—

जिस प्रकार नित्य का भोजन शरीर-हेतु आवश्यक है, उसी प्रकार नित्य का व्यायाम भी शरीर के लिए परमावश्यक है। व्यायाम का शाब्दिक अर्थ है, व्यय आय अर्थात् व्यय का अर्थ है, परिश्रम तथा आय का अर्थ है भोजन तथा आराम। जहाँ तक हो आय और व्यय का सन्तुलन ही अच्छे स्वास्थ्य का लक्षण है।

आजकल के सभ्य युग में अनेकों अप्राकृतिक व्यायाम प्रचलित हैं और सभी से थोड़ा बहुत अपने-अपने दृष्टिकोण से लाभ मिलता है किन्तु इन सभी प्रकार के व्यायामों में यौगिक आसनों का व्यायाम

सर्वोत्कृष्ट तथा अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इस बात को हमारे भारतीय विद्वान ही नहीं, अपितु पश्चात्य विद्वानों ने भी एक मत हो आसनों की सराहना की है। यौगिक व्यायाम की महत्ता के कई एक प्रमुख कारण हैं। इनमें सर्वप्रथम है कि इस व्यायाम द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के साथ-साथ रोग-निर्वारण भी होता है। इसके अतिरिक्त यह व्यायाम नाड़ी-शुद्धि तथा मन की एकाग्रता में परम सहायक है।

जहाँ योग की ध्यान, धारणा आदि क्रियायें मनुष्य के मन और आत्मा को स्वस्थ, शक्तिवान व पवित्र बनाती हैं वहाँ योग के आसन, प्रणायाम, नेति, धौति, न्योलि, वस्ति आदि मनुष्य के शरीर को स्वस्थ, शक्तिवान व पवित्र बनाती हैं। उपनिषद् में इस प्रकार लिखा है—

"न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयम् शरीरम्।"

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् :—जो मनुष्य योगाभ्यास द्वारा अपने शरीर को योगाग्निमय बना लेता है या योगाग्नि में जो अपने आप को तपा लेता है उसे न रोग होते हैं और न बुढ़ापा ही आता है और न वह जल्दी ही मृत्यु को प्राप्त होता है। योग-ग्रन्थों में इसके विषय में बहुत कुछ लिखा मिलता है :—

"कुर्यात् सदासनं स्थैर्यमारोग्यम् चाङ्गलाघवम्"

अर्थात् :—स्वास्थ्य-प्रेमी मनुष्यों को सदा आसनों का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि योगासनों से शरीर में स्थिरता, आरोग्यता तथा अंङ्गों में हल्कापन, फुर्तीलापन आता है। यथार्थ में यह हमारा शरीर एक कच्चे घड़े के समान शीघ्र टूट-फूट कर नष्ट होने वाला है लेकिन जिस प्रकार आग से तपने पर घड़ा युक्तिपूर्वक सुरक्षा से रहने पर वर्षों चलता है उसी प्रकार इस शरीर को योगाग्नि में तपाने पर यह बहुत लम्बे समय तक सुखपूर्वक रहने वाला बनाया जा सकता

है। योग—शास्त्रों में तो यहाँ तक लिखा है कि जिसने अपने को हठ योग द्वारा मार लिया है उसको संसार में मारने वाला कोई नहीं है।

नियमित रूप से योगाभ्यास करने से शरीर हल्का व फुर्तीला हो जाता है। इसके अतिरिक्त शरीर में बात, पित्त तथा कफ दोषों का नाश होकर, जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है। इस व्यायाम से रोग पास तक नहीं आते। और यदि बीमारी हो तो भी वह दूर हो जाती है। वास्तव में इस व्यायाम के समान कोई दूसरी औषधि नहीं है :—

"औषधि नहिं योगासनहिं समाना।
व्यय है कम और लाभ महाना ॥"

३. सदाचार—

अर्थात् सत् आचार उत्तम या योग्य व्यवहार है। सदाचार के अन्तर्गत ये नियम पालनीय होते हैं। १—ब्रह्मचर्य का पालन २—उत्तम आत्मो-त्थान करने वाले सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय ३—सत् पुरुषों का संग ४—ईश्वर-भक्ति ५- सत्य बोलना ६--परोपकार करना ७--सादा जीवन ८--उच्च विचार ९--सदा प्रसन्न रहना १०--आत्मनिरीक्षण करना आदि गुण-समूह को सदाचार कहते हैं। इन नियमों पर चलने वाला सदाचारी कहलाता है। जीवन को उच्चतम व सुखमय बनाने की क्षमता केवल सदाचारी में ही होती है। अतः हमारा प्रथम कर्तव्य है कि हम मन, वचन तथा कर्म से अपने को सदाचारी बनायें।

योग के साधनों से पूर्णतः लाभान्वित हम तभी हो सकते हैं जबकि योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दी गई आज्ञा का हम पालन करें। गीता में योग-साधकों को चेतावनी देते हुए भगवान कहते हैं :—

"युक्ताहार विहारस्य, युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

अर्थात् :—योग-साधन तभी मनुष्य के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रोगों व दुर्बलताओं को दूर कर समस्त दुखों को नष्ट करने में सहायक होता है जबकि मनुष्य का आहार-विहार (व्यवहार) तथा अन्य शरीर की चेष्टायें कर्म युक्त (नियमित) हों अर्थात् अनुकूल हों।

हम अस्वस्थ क्यों ? :—

अर्वाचीन मानव स्वास्थ्य के इन (आहार-व्यवहार व आचार) इन तीन आधार स्तम्भों व नियमों की अवहेलना करके ही नाना प्रकार के रोगों व शोकों से ग्रस्त हो जाता है। आज के सभ्य कहलाने वाले मानव का अपने जीवन के प्रति दृष्टिकोण ही बदल गया है वह शरीर को वाह्य कृत्रिम (वस्त्र, क्रीम, पाउडर इत्यादि) साधनों द्वारा सुन्दर व आकर्षक बनाने में जुटा हुआ है। वह अपने धन व समय का बहुत बड़ा भाग शरीर को बाहर से सुन्दर बनाने में व्यय करता पाया जाता है, लेकिन यह उसकी बहुत बड़ी भूल व मूर्खता है यह स्पष्ट रूप में अपने आपको धोखे में रखना है क्योंकि जो धन व समय उसे खाने-पीने व व्यायाम में व्यय करना चाहिए वह बनावटी सौन्दर्य में व्यय कर रहा है। रे पगले ! सौन्दर्य का जन्म तो अच्छे स्वास्थ्य के गर्भ से होता है और अच्छे स्वास्थ्य का आधार है आहार व्यवहार तथा सदाचार।

पश्चिमी सभ्यता व संस्कृति का कुप्रभाव हम पर ऐसा हावी हुआ कि हम अपने अतीत के संस्कारों को खोकर उनकी नींव में स्वयं ही कुठाराघात करने के लिए प्रस्तुत हो गये हैं, जिसका दुष्परिणाम हमें रोगी-शोकी जीवन व्यतीत करने को वाध्य कर रहा है। आज हम

केवल कथन मात्र के लिए ही भारतीय हैं लेकिन हमारा खान-पान, वेश-भूषा बोल-चाल व आचार-विचार सभी विदेशी साँचे में ढलते जा रहे हैं। हम विकासवाद की सीढ़ियों पर जैसे-जैसे आगे बढ़ते जा रहे हैं, वैसे-वैसे हमारा जीवन रोग तथा दुखों व चिन्ताओं के कारण भार स्वरूप प्रतीत होता जा रहा है। जीवन तत्व की धारा जो कि शारीरिक व मानसिक परिस्थितियों को स्वस्थ रखने में समर्थ हुआ करती थी, वह प्रायः आज इन्हीं सब कारणों के फलस्वरूप लुप्त होती जा रही है।

रोगों के कारण----

आयुर्वेद शास्त्र में समस्त रोगों का निदान करते हुए लिखा है—

"सर्वेषामेव रोगाणाम् निदानम् कुपितो मलः।"

अर्थात्—समस्त रोग मल के कुपित होने पर होते हैं। यह कुपित हुआ मल अपने स्वाभाविक भाग से किन्हीं कारणोंवश जब नहीं निकल पाता तो मलाशय में पड़ा हुआ सड़ता रहता है और अन्त में कुपित हो जाता है। जीवनी-शक्ति जब इस कुपित मल को यथा-तथा निकालने का प्रयत्न करती है तो इसी को हम रोग के नाम से पुकारते हैं। शरीर में जब दोष पैदा हो जाते हैं, तभी मनुष्य रोग-ग्रस्त हो जाता है। चरक-शास्त्र के अनुसार—

"सर्वे शरीरदोषाः भवन्ति, ग्राम्याहारात्॥"

अर्थात् स्वभाव के विरुद्ध आहार करने से शरीर में दोष पैदा हो जाते हैं और ये ही दोष रोगों का कारण होते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर-स्थित पाचन-यन्त्र जब अधिक आहार या दूषित आहार से खराब हो जाते हैं या व्यायाम के अभाव से शिथिल पड़ जाते हैं तो पेट में विकार पैदा कर देते हैं, जो रोग का कारण बनते हैं।

सभी चिकित्सक व शास्त्रों द्वारा यह बात प्रमाणित है कि समस्त रोग मल के कुपित होने पर होते हैं। तो सभी को यह बात भी मान्य होनी चाहिए कि समस्त रोगों की चिकित्सा भी एक ही होगी; वह है, इन मलों को दूर करना, बाहर निकालना। मल के कुपित होने के कुछ कारण इस प्रकार हैं—

१—अप्राकृतिक आहार तथा विहार २—परिश्रम का अभाव या अत्यधिक परिश्रम ३—इन्द्रिय-लोलुपता ४—वीर्यनाश ५—फैशन तथा बनावटी (अस्वाभाविक) जीवन ६—अपनी सहजा प्रकृति का अनुसरण न करना ७—औषधियों का अत्यधिक सेवन इत्यादि कारणों से मल कुपित होकर रोगों का कारण बन जाता है। चरक शास्त्र के मतानुसार—

शरीर तथा मन दोनों ही रोगों के आश्रय हैं। कई रोग तो केवल शरीर का आश्रय लेते हैं जैसे कुष्ठ और कई रोग केवल मन का आश्रय लेते हैं जैसे क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदि और कई रोग मन तथा शरीर दोनों का ही आश्रय लेते हैं जैसे उन्माद, आलस्यादि।

मन आरोग्यता के तीन आधार हैं—१-प्रसन्नता २-शान्ति तथा ३-स्थिरता। मन सदा प्रसन्न रहे, मन में शान्ति रहे तथा मन में सदा स्थिरता तथा एकाग्रता रहे तो समझना चाहिए कि मन स्वस्थ है। काम, भय, चिन्ता, ईर्ष्या ये मन की प्रसन्नता का अपहरण करते हैं। क्रोध, ईर्ष्या ये मन की स्थिरता व शान्ति को नष्ट करते हैं। मन को स्वस्थ रखने के लिए उक्त विकारों को नष्ट किये बिना हमारा मन स्वस्थ नहीं रह सकता। मन में जो भी शुभ या अशुभ भाव प्रकट होते हैं उनका प्रभाव हमारे शरीर पर तत्काल पड़ता है क्योंकि मन अपने समस्त हाव-भावों को शरीर के माध्यम से प्रकट करता है। मानसिक दुःखों के विकार शरीरस्थ रसों व रक्त में विष उत्पन्न कर

देते हैं, इसी कारण क्लेश के समय श्वाँस की गति मन्द पड़ जाती है रक्त की नाड़ियाँ शिथिल पड़ जाती हैं आदि। ठीक इसी प्रकार भय का कुप्रभाव मन और शरीर की अंतड़ियों मूत्राशय व गुर्दे पर शीघ्र पड़ता देखा गया है, जिसके प्रभाव से डरे हुए पशु, पक्षी तथा बच्चे मल-मूत्र त्याग देते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, डाह, या जलन से तिल्ली या जिगर पर कुप्रभाव पड़ता है, जिसके फलस्वरूप इन अंगों में खराबी पैदा हो जाती है। चिन्ता, निराशा तथा भय से हृदय निर्बल तथा रोगी हो जाता है और वृद्धावस्था के लक्षण शीघ्र प्रकट होने लगते हैं। क्रोध तथा घृणा से चिन्ता तथा उदासीनता से फेफड़े तथा मस्तिष्क में बिकार उत्पन्न हो जाते हैं तथा सिर के बाल गिरने लगते हैं। विषय-वासनाओं के चिन्तन से वीर्य-विकार उत्पन्न होकर प्रमेह आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त अति लोभी होने से कफ, क्रोधी होने से पित्त तथा कामी तथा मोही होने से बातज रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

मन में इन कुमनोभावों के विपरीत सुमनोभावों को रखने से मन तथा शरीर दोनों स्वस्थ व दीर्घायु बनते हे। जैसे हर्ष से रक्त की गति तीव्र होकर शरीर में स्फूर्ति व हृदय में उत्साह व उमंग पैदा होती है तथा इससे रक्त शुद्ध भी होता है। स्वास्थ्य के लिए हंसना अति उत्तम औषधि है। इसके विषय में किसी अंग्रेजी विद्वान का मत है—

"Laugh three times a day.
keep the doctor away."

अर्थात् खूब ठट्ठा मार कर दिन में तीन बार हंसो और डाक्टर को दूर रखो। हँसने से आयु में वृद्धि होती है। हँसने से चेहरे की समस्त मांस-पेशियों का अच्छा व्यायाम हो जाता है, जिससे चेहरा सुन्दर तथा भर जाता है। इससे पाचन-शक्ति भी तीव्र हो जाती है।

एक अन्य अँग्रेज विद्वान का भी मत है—

"Laughing is the best tonic for health."

अर्थात्—हँसना तन्दुरुस्ती के लिए अति उत्तम औषधि है। इसके अतिरिक्त दया, प्रेम, क्षमा आदि दैवी मनोभावों को अपने अन्दर रखने से मनुष्य देवता बन जाता है, वह सदा स्वस्थ रहता है तथा चिरायु हो जाता है। यथार्थ में हमारा क्या सूक्ष्म तथा क्या स्थूल शरीर दोनों ही के रोगों का आश्रय व मूल आधार, हमारा मन ही है। स्थूल शरीर का रोग इतना असाध्य नहीं जितना कि मन का होता है एक बार मन में प्रवेश किये हुए विकार मुश्किल से निकलते हैं। यदि हमारा मन स्वस्थ होगा तो तन तो मन के अधीन होने के नाते स्वतः ही स्वस्थ होगा।

यदि गम्भीरता से रोगों के विषय में विचारा जाय तो रोगों के नाम से जितना भयभीत होकर हम अपना अनिष्ट करते हैं, कम से कम उससे तो बचा ही जा सकता है। यथार्थ में आज रोगों को एक प्रकार का हौवा समझा जाता है इसी कारण से आज का प्राणी रोगों के नाम से भयभीत होकर रोगों के सामने अपने आपको समर्पित कर उसके परिणाम को भोगता है।

संसारी लोग जिसे रोग कहते हैं, यथार्थ में वह रोग नहीं है बल्कि वह तो शरीर का प्राकृतिक धर्म तथा स्वास्थ्य व जीवन का लक्षण हैं, पर अज्ञानी जन इस वास्तविक तथ्य को न समझ कर शरीर के इस सामयिक आवश्यक परिवर्तन व गति को देख तथा इसको रोग समझकर, इससे भयभीत होकर, इससे बचने के अनेकानेक उपाय करते है। लेकिन जिस प्रकार हम और आप अपने मकान में सामयिक परिवर्तन करते हैं जैसे, गन्दी नालियों को साफ करना व अन्य टूटी-फूटी दीवारों की मरम्मत करना आदि, बस ठीक इसी प्रकार

से हमारे शरीर रूपी मकान में रहने वाली प्रकृति (चेतनाशक्ति) भी स्वाभाविक रूप से समय-समय पर आवश्यतानुसार शरीर रूपी मकान की सफाई व मरम्मत करती रहती है। इस सफाई के कार्य में प्रकृति शरीर रूपी मकान से आवश्यक, टूटे-फूटे व विजातीय दूषित पदार्थों को बाहर निकालती रहती है। प्रकृति के इसी सफाई व मरम्मत के कार्य को हम रोग के नाम से पुकारते हैं। लेकिन सचाई तो यही है कि यह रोग नहीं किन्तु शरीर की एक प्रकार से सफाई है। यह तो शरीर का प्राकृतिक धर्म है जो कि समय-समय पर होता रहता है! प्राकृतिक चिकित्सकों के मत से जिस व्यक्ति के शरीर में जितनी अधिक मात्रा में जीवनी शक्ति होगी उसके शरीर में प्रकृति की ओर से सफाई का उतना ही अच्छा प्रबन्ध होता है। हमारे शरीर में यह सफाई का कार्य तभी होता है, जब हमारा जीवन प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल चलता है या हमारा आहार-विहार अनुचित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रकृति हमें चेतावनी देती है, जिसे कि हम रोग के नाम से पुकारते हैं।

हमारे अन्दर की सहजा प्रकृति हमें सदैव उचित आहार-विहार (व्यवहार) के लिए चेतावनी देती रहती है। लेकिन इन्द्रिय लोलुपता-वश उस चेतावनी की हम अवहेलना करके या उसका आशय ठीक-ठीक न समझकर उसके विरुद्ध कार्य कर बैठते हैं, जिसके फलस्वरूप हम रोग-शोक के रूप में दण्ड के भागी होते हैं। जिस प्रकार कुतुबनुमा की आन्तरिक प्रभुता, सुई के सिरे को सदैव उत्तर की ओर रखता है उसी प्रकार हमारा जीवन (आत्म-रक्षक तत्व) हमें सदैव स्वास्थ्य के पथ पर चलने की प्रेरणा देता रहता है। हम उस पर ध्यान न दें, यह दूसरी बात है।

संसार में रोग और शोक केवल ईश्वर के नियमों को ठीक-ठीक न समझ सकने के ही कारण हैं। प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करने

पर ही प्रकृति हमें रोग व शोक रूपी कारागार में डालकर कुछ अवधि तक भूल-सुधार के लिए बन्दी बना लेती है। लेकिन प्रकृति के इस हस्तक्षेप को हम अपने सुधार के रूप में न समझकर उसको आपत्ति या रोग समझ कर उस त्रुटि को सुधारने का प्रयत्न नहीं करते। मनुष्य यदि प्रकृति की मूक भाषा को समझकर उसके निर्देशानुसार उन त्रुटियों को सुधार ले जिनके कारण वह रोगी व शोकी होता है तो सभी प्राणी आरोग्यवान होकर आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते हैं। जीवन-यापन सम्बन्धी गलत व अनियमित धाराओं ने ही आज मनुष्य को इस स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है कि वह रुग्ण व दुःखी है। तुलसीदास जी के कथनानुसार प्रत्येक मनुष्य अपने ही ज्ञान तथा अज्ञान रूपी कर्मों के फलों को भोगता है, मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र व शत्रु है। कहा है :—

"कोउ न काऊ सुख दुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग फल चाखा॥"

रोग के विषय में जैसी कि अधिकाँश लोगों की धारणा है, अभिशाप है, किन्तु यह तो प्रकृतिमाता का शुभ आशीर्वाद है। शरीर में संचित जो दूषित, विजातीय पदार्थ एकत्र हो जाते हैं जिन के कारण नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं, उन्हें शरीर से बाहर निकालने-हेतु ही हमारी स्नेहमयी प्रकृतिमाता हमें रोगी बनाकर शरीर में संचित दूषित मलों को बाहर निकलती है। प्रकृतिमाता के इस कार्य से हमें जो कष्ट मिलता है इसलिए हम रोगों को अपना अमित्र समझकर उनसे बचने के लिए नाना प्रकार के उपाय करते हैं। प्रकृति माता या जीवनी शक्ति के इस सफाई के कार्य में हम उसकी सहायता न करके उल्टा उसके मार्ग में दवा रूपी एक रोड़ा अटका देते हैं। जिसके फलस्वरूप जीवनी शक्ति दवा रूपी रोड़े की रुकावट से अपने कार्य

की भली भाँति कर पाती। अत्यधिक दवाओं के सेवन से जीवनी शक्ति कमजोर पड़ जाती है, जिससे उसमें भविष्य में होने वाले रोगों से सामना करने व उसको शरीर से बाहर निकालने की शक्ति नहीं रह पाती।

समस्त रोगों की रामबाण ओषधि योग-साधन—

आज हमारे अन्दर दिनों दिन स्वास्थ्य के सम्बन्ध में दिलचस्पी का अभाव दूसरों पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति तथा औषधियों में सरल विश्वास देखने को मिलता है। किन्तु हमें औषधियों के अन्तिम परिणाम का ज्ञान नहीं होता है। आज संसार में जितने भी रोग-निवारण के देशी तथा विदेशी उपाय प्रचलित हैं, उनमें कोई डाक्टर या वैद्य शरीर-संचित मलों की शुद्धि पर भली भाँति ध्यान नहीं देता और न ही रोगों के कारणों पर, इन लोगों का ध्यान जाता है, जिनके फलस्वरूप मलों की शुद्धि भली प्रकार नहीं हो पाती और न ही भविष्य में होने वाले रोगों की रोकथाम ही हो पाती है। आज के डाक्टर, वैद्य तो रोग-कारक शरीरसंचित मल को जिसे प्रकृति सामान्य कष्ट देकर भी शरीर से बाहर निकालना चाहती है, शरीर में पालते रहते हैं। आजकल इस प्रकार के अनेक नशीले इंजेक्शन व गोलियाँ प्रचलित हैं जिन्हें डाक्टर रोग से पीड़ित भाग में लगाकर या खिलाकर उस पीड़ित भाग को चेतनारहित कर देते हैं, जिसके फल-स्वरूप उस भाग में होने वाला कष्ट प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार रोग का ऊपरी इलाज करके डाक्टर उन मरीजों को भ्रम में रख कर सांत्वना देते हैं कि अब तुम स्वस्थ हो गये। जब रोगी के कष्ट का निवारण हो जाता है तो रोगी भी समझ लेता है कि मैं ठीक हो गया, किन्तु निकट भविष्य में वही दवा द्वारा दबाया हुआ रोग के भीतर शरीर

पुनः अपनी शक्ति को बढ़ाकर एक भयङ्कर रोग के रूप में प्रकट होकर रोगी के लिए प्राणघातक बन जाता है ।

आज संसार से डाक्टर तथा वैद्यों की एक बाढ़ सी आ गई है किन्तु इनके इतनी अधिक संख्या में होते हुए भी ससार में रोग तथा रोगियों की संख्या नित्य प्रति बढ़ती जा रही है। मनुष्य जैसे-जैसे रोग तथा शोकों से बचने का उपाय करता जाता है वैसे-वैसे रोग शोक समाप्त होने की अपेक्षा बढ़ते ही जा रहे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है :—

"मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।"

कविवर रहीम जी एक स्थान पर इसी भाव को प्रगट करते हुए लिखते हैं—

"रहिमन बहु भेषज करत, व्याधि न छांड़त साथ।
खग, मृग बसहिं अरोग वन, हरि अनाथ के नाथ ॥"

इस प्रकार की विषम स्थिति को देखकर यह बात अवश्य विचारणीय है कि क्या आरोग्य तथा सुख-शान्ति की प्राप्ति का और भी कोई साधन है जिसके द्वारा हम रोग-रहित होकर पूर्णतः सुख और शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करते हुए आत्मिक, मानसिक तथा शारीरिक उन्नति कर सकें।

आज हमारी यह धारणा बन चुकी है कि बिना दवा के रोग नहीं जाता या दवा के अतिरिक्त रोग-निवारण का कोई अन्य उपाय है ही नहीं। यह हमारी बहुत बड़ी भूल है। इसके सम्बन्ध में "मैं" तुम्हें अपना ही नहीं, अपितु सैकड़ों मनुष्यों के इस बात के प्रमाण दे सकता हूँ जिन्होंने योग-साधन द्वारा रोग-मुक्त होकर अपने जीवन को पूर्णतः आरोग्यवान बनाया है।

प्राचीन भारत ने इस योग-साधन के बल पर ही आध्यात्मिक

मानसिक तथा शारीरिक उन्नति का ज्वलंत उदाहरण संसार के सामने उपस्थित किया था। लेकिन दुर्भाग्यवश आज हम उसी भारत माँ की कोख से जन्म लेकर अपने प्राचीन ऋषि मुनियों तथा सिद्ध योगियों की अमूल्य निधि इस योग-विद्या को भुलाकर तथा इसकी अवहेलना कर सब प्रकार से पतित होकर आधुनिक रूप में परिणित हो गये हैं। आज हम इस योग-विद्या को भुलाकर ही विषय-भोगों के जाल में फँसकर रोगी व शोकी बनकर अपने ज्योतिर्मय जीवन को अन्धकारमय बनाते जा रहे हैं।

यदि हम अपने खोये हुए शारीरिक, मानसिक, तथा आत्मिक स्वास्थ्य को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें इस योग-विद्या को अपने घरों, विद्यालयों तथा समाज में स्थान देना होगा। तभी हम पुनः अपनी पूर्व अवस्था को प्राप्त कर भारत के गौरव को बढ़ा सकेंगे।

"तन मन के आरोग्य का, साधन है एक योग।
काया, मन निर्मल बनें, दूर भगें सब रोग ॥"

●)(●
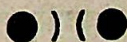
❀ योग ❀

योग क्या है ?

संसार में ईश्वर-उपासना की जो विधियाँ प्रचलित हैं वे योग के बिना प्रायः सभी अपूर्ण हैं। अन्य प्रचलित विधियाँ योग का एक अङ्ग हो सकती हैं, सर्वाङ्ग नहीं। इस प्रकार प्रायः सभी विधियाँ किसी न किसी अंश में योग की ऋणी हैं। संसार में ईश्वर-प्राप्ति का पूर्ण तथा निश्चित यदि कोई साधन है तो वह योग ही है।

'युज्' धातु से योग सिद्ध होता है। "युज्यते सः योगः" अर्थात् जो जीवात्मा को परमात्मा से मिलाये उसे योग कहते हैं। वह योग शब्द इतना व्यापक व महत्वशाली है कि इसे सभी सिद्धान्तवादियों ने हृदय से अपनाया है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग इत्यादि सभी शब्द इसकी व्यापकता के परिचायक हैं। "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति ने योग को अपनी अपनी मति से अनुसार प्रयोग किया है। जो व्यक्ति हृदय (भाव) प्रधान है और ईश्वर-प्राप्ति के लिए संलग्न हैं, उन्होंने इसको भक्ति या उपासना योग व जो लोग बुद्धि (ज्ञान-निष्ठा) प्रधान हैं, और आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील हैं उन्होंने ज्ञानयोग तथा जो व्यक्ति ईश्वरार्पित बुद्धि से या निष्काम भाव से कर्म करते हुए कर्म-छुटकारा व अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्होंने इसे कर्म-बन्धन से योग के नाम से अपनाया है। इसी प्रकार अन्य योगों की भी मान्यता है।

श्री गीता के अनुसार योग के मुख्यतः तीन ही विभाग हैं जो कि ज्ञान, भक्ति तथा कर्म योग के रूप में हैं। वेदों में भी ईश्वर-प्राप्ति के लिए तीन ही मार्ग ज्ञान, भक्ति तथा कर्म का अवलम्ब लिया गया है। ईश्वर-प्राप्ति का विभाजन जो तीन मार्गों में किया गया है उसका एक मात्र कारण है कि मनुष्य के अन्दर मुख्यतः तीन शक्तियों के केन्द्र विद्यमान हैं। जिनको बुद्धि हृदय, तथा हाथ, दूसरे शब्दों में ज्ञान-शक्ति भावशक्ति तथा क्रियाशक्ति कहते हैं।

अधिकांश व्यक्ति ज्ञान, भक्ति तथा कर्मयोग इन तीनों को अलग-अलग मानते हैं। किन्तु वास्तव में इन तीनों का अभिन्न सम्बन्ध है।

ज्ञान-योग–

अधिकाँश लोग सांसारिक ज्ञान व विज्ञान को जानना ही ज्ञान योग समझते हैं, बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थों से परे तथा शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार और चित्त से परे उस गुणा-तीत शुद्ध परमात्म तत्व को पूर्ण रूप से जान लेना ही सही अर्थों में ज्ञान-योग है। यह ज्ञान पुस्तकों के पढ़ लेने या शब्दों द्वारा सुन लेने मात्र से प्राप्त नहीं होता; बल्कि इसके लिए भक्ति या उपासना की आवश्यकता है।

भक्ति-योग या उपासना-योग–

अधिकाँश व्यक्ति मूर्ति-पूजा या तिलक छापे व रामायण आदि के पठन-पाठन मात्र को ही भक्ति समझते हैं। लेकिन भक्ति या उपा-सना तो चित्त की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने का नाम है। जल के भूमि में सर्वत्र व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धारा को किसी भी स्थान विशेष से खोदने पर निकाला जा सकता है। उसी प्रकार परमात्म-तत्त्व के सर्वत्र व्याप्त रहते हुए

भी उसके शुद्ध स्वरूप को किसी भी स्थान विशेष द्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए बहुत दूर नहीं अपितु अपने अन्दर शरीर स्थित षट-चक्रों में चित्त को किसी एक लक्ष्य में ठहराकर शुद्ध परमात्म तत्व को प्राप्त करने का यत्न ही भक्ति तथा उपासना है। उसके पश्चात् सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर शुद्ध परमात्म स्वरूप में जो अवस्थिति होगी, वही ज्ञानयोग है। अतः उपासना या भक्तियोग द्वारा ही अनुभूति से ज्ञानयोग की प्राप्ति होती है, उपासना-रहित ज्ञान तो शुष्क ज्ञान है। इसके अतिरिक्त यह उपासना कर्म-योग के साधक के बिना असम्भव ही है।

कर्म-योग—

स्वाध्याय या प्रवचनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को योग-साधन द्वारा क्रिया-क्षेत्र या कर्म में बदलने को कर्म-योग कहते हैं। गीता के अनुसार शरीर इन्द्रियों से होने वाले कर्त्तव्य रूप समस्त कर्मों को तथा इनके फलों को ईश्वर को समर्पण करते हुए अनासक्त, तथा निष्काम भाव से व्यवहार करने का नाम हीं कर्मयोग है।

उपनिषदों में 'योग' समाधि को कहा गया है और समाधि "समतावस्था जीवात्मा परमात्मनः" अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहा गया है। योगाचार्य भगवान श्री पतञ्जलि ने "चित्तवृत्ति निरोधस्तु योगः" कहकर योग शब्द की अभिव्यक्ति की है। निरोध शब्द का अर्थ शास्त्रीय परिभाषा में निरोधः समाधि ही सिद्ध होता है। समाधि सारी भूमियों (अवस्थाओं) में चित्त का धर्म है जो तीन अवस्थाओं में दबा रहता है, केवल दो भूमियों में प्रकट होता है। चित्त की पाँच भूमियाँ हैं, सारे संसार के प्राणियों के चित्त इन्हीं पांच अवस्थाओं में विभक्त रहा करते इनमें से—

१—मूढ़ावस्था—

इसमें तमोगुण की प्रधानता रहती है। रज और सत्व, गौण रहते हैं, इस अवस्था के चित्त वालों की प्रवृत्ति काम, क्रोध मोह आदि से आवृत्त रहती है और ये आलस्य, तन्द्रा में घिरे रहते हैं।

२—क्षिप्तावस्था—

जिनमें रजोगुण प्रधान रहता है। तमोगुण गौण रहने के कारण इनके मन में चंचलता, दुःख-शोक, चिन्तायें बनी रहती हैं।

३—विक्षिप्तावस्था—

जिनमें सतोगुण प्रधान रहता है, रजोगुण व तमोगुण गौण रहते हैं। इनके मन में पूर्ण प्रसन्नता, क्षमा, दया, परोपकार और साधनों में संलग्नता ज्ञान, धर्म, वैराग्य में पूरी-पूरी अभिरुचि रहती है, इनका मन थोड़ा-थोड़ा एकाग्रता की ओर अग्रसर होता है तथा शान्त रहता हैं।

४- एकाग्रावस्था—

जिनमें सतोगुण प्रधान रहता है व रजोगुण व तमोगुण वृत्ति मात्र में शेष रहते हैं। ऐसे प्राणियों के अन्दर वैराग्य की प्रधानता होती है।

५- निरोधावस्था—

जिनमें बाहर से गुणों का परिणाम बन्द होकर चित्त सत्व में निरोध परिणाम संस्कार मात्र से शेष रह जाता है व द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। सही अर्थों में इसी अवस्था को 'योग' कहते हैं।

ऊपर लिखी पाँचों प्रकार की अवस्थाओं में क्षिप्त मूढ़ चित्त में, योग की गन्ध भी नहीं होती और विक्षिप्त चित्त में जो कभी-कभी क्षणिक स्थिर होता है उसकी भी योग पक्ष में गिनती नहीं हैं। केवल मात्र एकाग्रावस्था व निरोधावस्था को ही योग श्रेणी में लिया गया है।

योगदर्शन का प्रारम्भ करते समय महर्षि पतञ्जलि भगवान ने प्रथम सूत्र में योग को अनुशासन के रूप में रक्खा है। 'अथ योगानुशासनम्" ॥१॥ प्राणियों में दूसरों को अनुशासन रखने की वृतिस्वाभाविक रूप में पाई जाती है परन्तु प्राणो इस बात को भूल जाता है कि प्रथम उसे अपने व्यक्तिगत विचारों पर (अपनी चित्त वृत्तियों पर) अनुशासन प्राप्त करना उचित है। प्रत्येक कार्य करने से पूर्व हमारे मस्तिष्क में विचारों की लहरें उत्पन्न होती हैं और यह अपने अनुरूप करने के लिए विवश करती हैं। संसारी क्षीण मनोबल वाले भोगी व्यक्ति इन लहरों के प्रभाव में वह जाते हैं। लेकिन योगी पुरुष इन लहरों को अपने अनुशासन में रखकर हानि, लाभ को तोल कर काम करते हैं। अपने पर अनुशासन प्राप्त करने के लिए योग की प्रत्येक प्राणी को आवश्यकता है।

हमारा चित्त एक नदी की तरह है जिसमें वृत्ति रूपी जल का प्रवाह बहता है। इसकी दो धारायें हैं जिसमें धारा विषय के मार्ग से बहती हुई संसार सागर में जाकर गिरती है तथा दूसरी विवेक के मार्ग से बहती हुई कल्याण और आनन्द के सागर में जाकर गिरती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली धारा तो जन्म से ही खुली है, दूसरी धारा को शास्त्र, सतगुरु तथा ध्यानयोग का अभ्यास खोलता है। पहली धारा को बन्द करने के लिए विषय के स्रोत पर वैराग्य का बांध लगाया जाता है और अभ्यास के फावड़े से दूसरी धारा का

मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में डाल दिया जाता है, तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह आनन्द रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। चित्त की प्रथम धारा भीतर से बाहर को ओर प्रवाहित रहती है। वह प्रवाह जैसे-जैसे बहिर्मुख हो जाता है, उसमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जाती है, जिसके फल-स्वरूप वृत्ति रूपी प्रवाह मलिन तथा स्थूल होता जाता है। इसके विपरीत चित्त की दूसरी धारा वाहर से अन्दर की ओर प्रवाहित करनी होती है, इसके लिए पुरुषार्थ की आवश्यकता है। प्रथम धारा तो स्वाभाविक ही भीतर से बाहर को बहती है। योग के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे वृत्ति रूपी प्रवाह को अन्तर्मुख किया जाता है वसे ही वैसे रज और तम का तिरोभाव होकर धारा शुद्ध निर्मल होकर आनन्द-सागर में मिल जाती है।

अष्टाङ्ग-योग—महर्षि पतञ्जलि जी महाराज ने योग-दर्शन ग्रन्थ में शारीरिक मानसिक तथा अध्यात्मिक विषय तथा आत्म-साक्षात्कार के लिए अत्युत्तम और उपयोगी साधन बताये हैं। महर्षि जी ने योग-दर्शन के साधन-पाद में अष्टाङ्ग योग का विध न दिया है। आपने यौगिक क्रियाओं का लक्ष्य चित्त की वृत्तियों का निरोध आत्म-साक्षात्कार बतलाया है। इस लक्ष्य तक पहुचने के लिए अत्युत्तम आठ मन्जिलें या कक्षायें बतलाई हैं जिनको साधक विधिवत् पार करता हुआ एक निश्चित समय में आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचता है। वह इस प्रकार है :—

"यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार।
धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि।"

अर्थात्—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान तथा समाधि ये आठ कक्षायें हैं। अंग अंगी से अलग नहीं होते

इसी विचार से अष्टाङ्ग योग के किसी एक अङ्ग का पालन करने वाला भी योग का विद्यार्थी ही माना जाता है।

इनमें से यम. नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार ये पाँच अङ्ग योग के वाह्य-अङ्ग माने जाते हैं तथा धारणा, ध्यान व समाधि ये तीन अन्तरंग अङ्ग माने जाते हैं।

१—यमः—"अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः" ॥३०॥

अर्थात्—अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह यह पाँच यम हैं। यमों की सब साधनाओं का आधार अहिंसा है। अहिंसा का सही अर्थ है, मन, कर्म तथा वचन से किसी को कष्ट न पहुँचाना। दूसरा यम सत्य है। मनसा. वाचा, कर्मणा प्रयुक्त की हुई वह वाणी जिससे किसी को कष्ट या धोखा न देना हो, सत्य कहलाती है। तीसरा यम, अस्तेय है। अस्तेय धर्म भी अहिंसा-भाव की पुष्टि के लिए है। अर्थात् दूसरे के धन को चोरी से, बल से या मनसा, वाचा, कर्मणा अपहरण न करना। चौथा यम ब्रह्मचर्य है। वीर्य धारण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। वीर्य को हमारे शास्त्रों में ब्रह्म के रूप में दर्शाया है-"वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि" अर्थात् तू वीर्यस्वरूप है इसलिए तू मुझ में वीर्य धारण करा। पाँचवाँ यम अपरिग्रह है। परिग्रह (संचय) का न होना, अपरिग्रह कहलाता है।

यम के बाद पाँच नियम इस प्रकार हैं—

"शौच सन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः"

अर्थात्—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्राणिधान ये पांच नियम हैं।

शौच—शौच वाह्य व अभ्यान्तर दो प्रकार का हैं। वाह्य शौच मिट्टी व जल आदि से क्रिया जाता है तथा अभ्यान्तर शौच (आमाशय

अन्तड़ियों तथा मलाशय आदि) की शुद्धि षट् कर्मों द्वारा होती है।

२—सन्तोष—सन्तोष का अर्थ है मन की पूर्णतः पुष्टि या तृप्ति। जिसको लोक तथा परलोक के भोग विचलित न कर सकते हों वही पूर्ण सन्तुष्ट व सन्तोषी कहलाने का अधिकारी है।

३—तप—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वों का सहन करना ही तप कहलाता है।

४—स्वाध्याय—प्रणवादि प्रभु के पवित्र नामों का जप करना, या मोक्ष दिलाने वाले शास्त्र गीता, उपनिषदादि का पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है।

५—ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में शुभाशुभ कर्मों को अर्पण करना या कर्म फल का त्याग करना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। यम-नियम के बाद हैं, आसन—

आसन—शास्त्रों में आसनों की व्याख्या इस प्रकार मिलती है—

"स्थिरसुखमासनम्"

अर्थात्—जिस स्थिति विशेष से जीव को सुख मिले उसको आसन कहते हैं। शरीर स्वास्थ्य व मन की एकाग्रता के लिए योगासनों का बड़ा महत्व है। योगाचार्यों ने आसनों की गणना चौरासीलाख जीव-योनियों के अनुसार बतलाई है। लेकिन पुस्तकों में इनका उल्लेख चौरासी तक ही मिलता है। हमारे दादा गुरु महाप्रभु योग योगेश्वर श्री रामलाल जी महाराज ने समस्त आसनों का निचोड़ जीवन-तत्व नामक नौ क्रियाओं में रख दिया हैं। जिनका उल्लेख आगे 'जीवन तत्व' नामक प्रकरण में किया जायेगा।

ऋषियों ने आसनों का रूप निर्धारित करते समय स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी संस्थानों और अंगों के व्यायाम पर समुचित ध्यान दिया है।

इनके अभ्यास से अल्प काल में ही शरीर के सभी भागों का अच्छा व्यायाम हो जाता है। विशेषकर वृद्धावस्था में नियमित रूप से आहार बिहार व शारीरिक श्रम न होने के कारण के कारण मल-विसर्जन क्रिया ठीक प्रकार से नहीं हो पाती जिसके फलस्वरूप शरीर की संधियों में मल एकत्रित हो जाता है, जो कि रोगों की उत्पत्ति व जरावस्था का कारण बनता है। आसनों के व्यायाम में अङ्गों के तनाव की विशेषता होने के कारण तनाव वाले अङ्गों का रक्त हटकर आस-पास के भागों में चला जाता है। पूर्व स्थिति में आने पर रिक्त स्थान (तनाव वाले अंग) की पूर्ति के लिए रक्त बड़ी तेजी से दौड़ता है जिसके परिणाम स्वरूप सन्धियो में एकत्रित मल रक्त में घुल जाता है और रक्त के साथ मिलकर मल-मार्ग तक पहुँच जाता है। इससे रोग होने की सम्भावना तो रहती ही नहीं यदि शरीर में पहले से कोई रोग हो तो वह भी रक्त के शुद्ध होने पर दूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त नियमित रूप से आसनों का अभ्यास करने से काम वेग नहीं सताता, बुद्धि निर्मल व सात्विक हो जाती है तथा मन एकाग्रता की ओर बढ़ता है।

आसनों के बाद योग की चौथी मंजिल या कक्षा प्राणायाम की आती है। इसके विषय में योग-शास्त्रों का मत है :—

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः" ॥४६॥

अर्थात् :—अपने प्राण-कोष पर अधिकार पाना अर्थात् प्राणों का निरोध (रोकना) करना प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम की महिमा योग-शास्त्रों में बहुत बतलाई है। प्राणायाम का लाभ निम्नलिखित श्लोक में श्री मनुजी महाराज ने इस प्रकार बतलाया है :—

"दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यान्ते दोषाः प्राणास्य निग्रहात् ॥

निःसन्देह प्राणायाम शरीर तथा मन के दोषों को दूर कर मन को नियन्त्रण करने वाला है। जिस प्रकार अग्नि में तपकर सोना शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम से शरीर-विकार ओजमय हो जाता है। प्राणायाम की साधना प्राण का संयमन है और इसका अन्तिम लक्ष्य है मन का निरोध करके समाधि लाभ करना। प्राणायाम के बाद योग की पाँचवीं मंजिल प्रत्याहार की आती है। इसके विषय में योग-शास्त्र में इस प्रकार का लिखा है :—

स्व विषयासम्प्रयोग चित्तस्वरूपानुकारेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

अर्थात्—मन को धारणा में बाँधने की तैयारी करना या मन के विस्तार को रोक कर एक स्थान में केन्द्रित करना प्रत्याहार कहलाता है। दूसरे शब्दों में प्रत्याहार मन को एकाग्र करने की तैयारी है। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों का संयमन किया जाता है।

अब प्रत्याहार के बाद अष्टाङ्ग-योग की छठी मंजिल या सीढ़ी धारणा की आती है इसका उल्लेख योग शास्त्र में इस प्रकार है :—

"देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" ॥ १ ॥

अर्थात् :—बाहर या भीतर कहीं भी एक स्थान में या देश में अपने चित्त (मन) को बाँधना (एकाग्र करना) धारणा कहलाता है। दूसरे शब्दों में अपने मन को एक पदार्थ या लक्ष्य में बहुत देर तक स्थिर करके रोकना धारणा है। अब धारणा के बाद सातवीं महत्वपूर्ण मंजिल ध्यान की आती है। ध्यान के विषय में योग-शास्त्र में इस प्रकार का लेख है :—

"तत्र प्रत्ययैकतानता: ध्यानम्" ॥२॥

अर्थात् धारणा में जिसका साक्षात्कार होता है उसकी एक रूपता बनी रहने को ध्यान कहते हैं। दूसरे शब्दों में जहाँ चित्त को लगाया

जाय उसी में वृत्ति का एकसार चलना ध्यान कहलाता है। धारणा में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय की त्रिपुटी रहती है, लेकिन जब वृत्ति को केन्द्र (ध्येय) में स्थित कर उसमें उन्हें लय किया जाता है, तब यही ध्यान हो जाता है। मन फिर उसकी ही धारणा या चिन्तन करता है। चिन्तन से मन की बिखरी हुई शक्ति एकत्रित होकर अपने कारण (बुद्धि) में लय हो जाती है। मन के बुद्धि में लय होने पर अहङ्कार का भाव नष्ट हो जाता है। जब यह अहं कर्त्ता (जीव) से अलग हो जाता है, उस समय वही जीव का दिव्य वास्तविक स्वरूप शेष रह जाता है। यह अवस्था "ध्यानं निर्विषयं मनः" अर्थात् मन के विषय रहित होने पर प्राप्त होती है। ध्यान में केवल ध्याता और ध्येय इन दोनों की स्थिति रहती है ?

ध्यान-मार्ग में साधक यम, नियम से प्रारम्भ करके आसनों द्वारा शरीर को स्थिर करता है, फिर शरीर में इन्द्रियों को तथा इन्द्रियों को मन में लय करके, मन को धारणा के द्वारा बुद्धि में स्थिर करता है, तव बुद्धि में आत्म स्वरूप चैतन्य अपने आप का अनुभव करता हुआ साधक स्वरूप में आत्मा की जातीय अभिन्नता का बोध करता है। अष्टाङ्ग योग के 'ध्यान-अंग को सब अंगों से उत्तम माना है' क्योंकि वस्तुतः योग का आरम्भ तो ध्यान से ही होता है। ध्यान के लिए मन की एकाग्रता परम आवश्यक है। संसार का कोई भी प्राणी चाहे वह किसी भी विधि-विधान से ईश्वरीय साधना करता है, जब तक उसके मन की एकाग्रता का उदय नहीं होगा तव तक उसे साधना में सफलता प्राप्त होना असम्भव ही होगा। संसार के सारे महान पुरुषों की अद्भुत शक्तियों में उनके मन की एकाग्रता का रहस्य छिपा हुआ है। सृष्टि के सारे कार्यों में मन की स्थिरता ही सफलता का कारण होती है, इसलिए मन की एकाग्रता संसार के प्रत्येक धर्म की साधना के लिए परमावश्यक

है। अब ध्यान के बाद योग की अन्तिम व सर्वश्रेष्ठ मोक्ष-दाता मंजिल है, "समाधि" इनके विषय में योग-शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन मिलता है :—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।"

अर्थात् —ध्यान के समय जिसका साक्षात्कार होता है अर्थात् केवल ध्येय मात्र की प्रतीति, तथा वह ध्येय अर्थ मात्र ही भासमान हो और ध्याता का निजस्वरूप प्रायः शून्य हो जाये तब वही ध्यान, समाधि के रूप में बदल जाता है। दूसरे शब्दों में ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकार में परिणत हो जाये या ध्याता के अपने स्वरूप का अभाव हो जाये और उसकी ध्येय से भिन्न उपलब्धि न हो, उस समय उस ध्यान का ही नाम समाधि हो जाता है। कहने का अभिप्रायः यह है कि ध्यान-काल में ध्याता और ध्येय दोनों रहते हैं परन्तु समाधि के समय ध्येय मात्र ही रह जाता है। समाधि का लक्ष्य जीवात्मा व परमात्मा का एकाकार होना है—

"जीवात्मा परमात्मा समतावस्था समाधिः।"

आज अधिकाँश लोगों में योग के विषय में भ्रान्तियाँ पाई जाती हैं, इसका केवल मात्र एक ही कारण है और वह यह है कि योग के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान का अभाव। अधिकाँश व्यक्तियों के अन्दर यह धारणा अपना घर किये हुए हैं कि योग-साधन गृहस्थियों के लिये उपयुक्त नहीं, यह योग तो बिरक्त महात्मा तथा ब्रह्मचारियों के ही अधिकार की चीज है, वस्तुतः ऐसा नहीं, यह सब के लिए है। तनिक विचारो ! व्यास, वशिष्ठ, जमदग्नि, पाराशर आदि सभी तो गृहस्थ थे फिर भी वे लोग उच्चकोटि के योगी थे। इनके अतिरिक्त तो हमारे उपास्य देव ब्रह्मा, विष्णु व महेश ये सब योगी ही तो थे। इस बात का प्रमाण हमें योग शिखो-

निषद के पाँचवें अध्याय में मिलता है :—

"ब्रह्मरूपो महायोगी महाभूतो महातपा।
विष्णु रूपो महायोगी पालयेदखिलं जगत्॥
रुद्र रूपो महायोगी संहरत्येव तेजसा। ५३॥"

अर्थात्—सृष्टि के प्रारम्भ में परम योग तत्त्व-वेत्ता योगयोगेश्वर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश योग-बल से ही क्रमशः सृजन, पालन तथा सृष्टि का संहार करते हैं। उनका कहा गया योग-साधन ही ईश्वर का सत्य एवं सनातन ज्ञान है। इस ज्ञान के ही आश्रय से तुम को उस परम-ब्रह्म का ज्ञान होगा।

महाभारत के युद्ध-स्थल में योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने जब देखा कि अर्जुन बुरी तरह मोह-माया के जाल में फँस कर आत्म विस्मृत हो रहा है तब भगवान ने अर्जुन को हर प्रकार से समझाकर अन्त में उसे स्पष्ट शब्दों ने योगी बनने की आज्ञा प्रदान की—

"तपस्विभ्योऽधिको योगी, ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन॥"

इस प्रकार भगवान ने तपस्वियों, ज्ञानियों तथा कर्म-काण्डियों में भी योगी का दर्जा श्रेष्ठ बताकर अर्जुन को योगी बनने का आदेश दिया। गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य भोगी न होकर योगी होने का है. तात्पर्य है, आत्मरत या आत्मसन्तुष्ट होना। अपने व्यक्तित्व को विकसित करना प्रत्येक मनुष्य का ध्येय है। भगवान ने इस गुणमयी माया से जिसका नाम और रूप अविद्या स्वरूप है, जो कि जीव के भ्रम तथा बन्धन का कारण है; इससे पार जाने के लिए योग-माया अर्थात् संकल्प-शक्ति या विद्या का अर्जुन को उपदेश दिया। जिस प्रकार से काँटे से काँटा निकला जाता है और काँटा निकलने निकलने पर दोनों ही काँटों को फेंक दिया जाता है, इसी प्रकार योग

माया से गुणमयी माया को दूर किया जाता है। अर्थात् नाम व रूप मय इस मायायुक्त सृष्टि को जो जीव के स्वरूप को ढके हुए है, ईश्वरीय नाम रूप द्वारा नष्ट किया जाता है। भगवान स्वयं भी गुणमयी माया से सृष्टि रचकर योगमाया से इसका संचालन करते हैं।

यह शरीर एक प्रकार से युद्ध-क्षेत्र ही है क्योंकि इसमें सदैव दैवी तथा आसुरी वृत्तियों में अपनी कामना की पूर्ति के लिये युद्ध होता रहता है। योग की साधना द्वारा दैवी वृत्तियों से आसुरी वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करे, इसके बाद जिस प्रकार काँटे से काँटा निकाल कर दोनों काँटों को फेंक दिया जाता है उसी प्रकार आसुरी वृत्तियों के दूर होने पर हमें दैवी वृत्तियों का भी त्याग कर देना चाहिए। तभी जीव अपनी आत्मा में स्थिर होगा क्योंकि गीता के अनुसार यह आत्मा ही आत्मा का शत्रु तथा मित्र है इसलिए योग-साधना द्वारा आत्मवान बनने के लिए ही अर्जुन को योगी बनने का आदेश भगवान ने दिया था।

योगी और भोगी—

ईश्वरीय माया त्रिगुणात्मक है। माया के तीनों गुणों से प्रेरित होकर प्राणीमात्र के मन कार्यरत होते हैं। ये तीनों गुण (सत्, रज, तम) भिन्न-भिन्न गुण तथा स्वभाव वाले होने के कारण मानवीय मन पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालते रहते हैं। मन में जिस समय जितनी देर तक जिस गुण का प्रभाव अधिक रहता है उतनी देर तक मनोवृत्तियां उसी स्वभाव की बन जाती हैं। शरीर इन तीनों गुणों की प्रधानता में, बाल्य, युवा, तथा वृद्धावस्था को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। रज-तम को अधिक बताने वाला शरीर अधिक भोग-विलासी होने

के कारण शीघ्र शीघ्र क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता है। "कर्तुम् न कर्तुम् अन्यथा कर्तुम्" की सामर्थ्य वाले योगी योग-शक्ति के द्वारा इन तीनों गुणों पर अपना प्रभुत्व रखते हैं। योगी जन इन तीनों गुणों को अपनी इच्छानुसार बरतने वाले बनाकर और इनसे होने वाले हानि-लाभ को समझकर उसी गुण को शरीर में अधिक बरतते हैं।

सतोगुण शांति व सन्तोष का दाता है। रजोगुण व तमोगुण अशान्ति के प्रतीक हैं तथा कामनाओं की वृद्धि करने वाले हैं। सतोगुणी मन सत्य को विचारने वाला तथा जानने वाला होता है। वास्तव में जीव का बन्धन व मुक्ति इन्हीं गुणों पर निर्भर है। एक भोगी इन्हीं का गुलाम होता है ये गुण उसे जैसा नाच नचाते हैं वह नाचता है।

सज्जनों! यदि संसार में रहकर भोगों को भोगते हुए भगवान की प्राप्ति करनी है तो उसके लिए 'योगः कर्मसु कौशलम्' के आधार से चलना होगा। गीता के कर्मयोग के अनुसार "कर्मसु कौशलम्" को ही योग कहा गया है। कर्मयोग का अन्तिम लक्ष्य निष्काम (फलासक्ति-रहित) होकर काम करना है। यही निष्काम कर्म व अनासक्ति कर्म है। कर्म करते हुए कर्म-बन्धन से मुक्त होना ही इसका स्वरूप है और जो व्यक्ति इस स्वरूप में स्थित हो चुका है, वही सच्चा कर्मयोगी है। कर्म-योग की विधि बताते हुए भगवान श्रीकृष्ण का कथन है :—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपश्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

अर्थात्—हे अर्जुन तू जो कुछ भी कर्म करता है, जो खाता है, जो कुछ दान देता है और जो कुछ तप करता है, अर्थात् तू जो कुछ लौकिक या पारलौकिक कर्म करता है जो कुछ देखता है, वह सब मेरे अर्पण कर। इससे क्या होगा? इसके लिये भगवान का कथन है—

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।गीता"

अर्थात्—जो पुरुष परमात्मा में अपने समस्त कर्मों को अर्पित करके और फलासक्ति त्यागकर परमात्मा के लिए ही सेवक बन कर्म करता है,वह उसी प्रकार पाप से लिप्यमान नहीं होता जिस प्रकार जल में उगा हुआ कमल-पत्र जल में नहीं भीगता।

इस प्रकार गीता के कर्मयोग का चरम लक्ष्य है, कर्म द्वारा अन्तः-करण की शुद्धि कर उसे सच्चिदानन्द परमात्मा से मिला देना। इसके अतिरिक्त वेद के उपासना काण्ड के अनुसार चित्त-वृत्ति के निरोध को ही योग कहा गया है। इसका अन्तिम लक्ष्य भी योग-साधन द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियों का निरोध कर परमात्मा के स्वरूप का अनु-भव करना है। निश्चल (तरंगरहित) जलाशय में जिस प्रकार मनुष्य अपना मुख देख सकता है उसी प्रकार चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् शान्त करते ही कूटस्थ आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में स्पष्ट दिखाई देने लगता है। इसी को आत्म-दर्शन कहते हैं। तीसरे, वेद के ज्ञान काण्ड के अनुसार जीवात्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को ही योग कहते हैं। इसका अन्तिम लक्ष्य अविद्या के द्वारा उत्पन्न अज्ञान को योग-विद्या द्वारा दूर कर आत्म—ज्ञान प्राप्त करते हुए जीवात्मा और परमात्मा के भेद का मिथ्या ज्ञान हटाकर, जीवात्मा तथा परमाप्मा को अद्वैत सिद्ध करना है।

शास्त्रों में मुख्यतः इन तीन प्रकार की साधनाओं का वर्णन इसी-लिए किया गया है कि मनुष्य के अन्दर भी तीन शक्तियों की ही प्रधानता पाई जाती है। जिसमें प्रथम मस्तिष्क जो ज्ञान का प्रतीक है, दूसरा हृदय जो भावना-शक्ति का प्रतीक है तथा तीसरे हाथ जो क्रिया-शक्ति के प्रतीक हैं।

भवरोग की निवृत्ति के लिए उपर्युक्त योग रसायन (उपासना, ज्ञान तथा कर्म) तीन मुख्य औषधियों का वर्णन धर्म-शास्त्रों में किया है। इनके भी भेद हैं, हमारे लिये कौनसा निदान उपयुक्त होगा? अर्थात् हमारे लिये कौनसी साधना लाभदायक होगी, इसका निर्धारण साधक (मरीज) स्वयं नहीं कर सकता बल्कि सद्गुरु रूपी वैद्य ही साधक (मरीज) के पूर्व संचित अन्तःकरण के संस्कार को देखकर यह निश्चित करते हैं कि यह साधक किस योग रूपी औषधि का अधिकारी है।

सज्जनों! क्या तुमने कभी विचारा है कि यह मानव-जीवन क्या है? भोग अर्थात् विषय की इच्छा या योग द्वारा आनन्द व मोक्ष की इच्छा। विचारने पर पता चलता है कि मानवयोनि भोगयोनि न होकर स्वाभाविक रूप से योगयोनि है। भोग-योनियाँ तो केवल पशु पक्षियों आदि की योनियाँ हैं। लेकिन दुर्भाग्यवश मानव जाति कर्म-प्रधान होते हुए भी इस कल्याणकारी योग-मार्ग को छोड़कर भोग-मार्ग पर बढ़ती जा रही है। यह कितनी विचित्र बात है कि तुम भोगों को तो भोगना चाहते हो लेकिन भोगों के स्वामी अर्थात् भगवान से मुख मोड़ते जा रहे हो। सज्जनों! विचारने की बात है कि यदि तुम भोगों के स्वामी को प्राप्त कर लोगे तो भोग अर्थात् माया तो भगवान की दासी है, वह तो तुझे बिना प्रयास के ही मिल जायगी। जितना पुरुषार्थ तुम भोगों की प्राप्ति में लगाते हो उतना यदि भगवान की प्राप्ति के लिये किया होता तो तुम्हारे दोनों हाथों में लड्डू होते अर्थात् भोग और भगवान दोनों की ही तुझे प्राप्ति होती।

अधिकाँश लोगों का कहना है कि इस भोग प्रधान संसार में योग साधना अत्यन्त कठिन है। वस्तुतः ऐसा नहीं भोगों में योग-साधन करके भी सुगमता से भगवान की प्राप्ति की जा सकती है। इसके

लिए अनासक्ति-भाव से कर्मयोग की साधना में लगना ही एकमात्र उपाय है। किसी कवि ने इस भाव को अच्छा दर्शाया है—

"पङ्कज ज्यों जल माँहि बसै, तौ भिन्न रहै जल पास न लावै।
हंस बसै सर माँहि सदा पै, छीर भखै नीरहि विलगावै।
व्यूह समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरे नहिं चित्त डिगावै।
भोग न बाँधि सकैं तिन योगे जो भोग में योग-समाधि लगावे।"

नाव जिस प्रकार पानी में ही रहती है तथा चलती है लेकिन जब पानी नाव में भर जाता है तो नाव पानी में डूब जाती है। इसी प्रकार संसार में तुम रहो और यहाँ प्राप्त भोगों को भोगो, क्योंकि संसार में रहने के लिए तथा यहाँ भोगने के लिए प्राप्त भोग ही ईश्वर की ओर से हमें मिले हुए हैं। लेकिन भोगों में जब तुम अहं की मुहर लगा देते हो अर्थात् पदार्थों में जब तुम्हारा मैं और मेरे का सम्बन्ध हो जाता है तब संसार सागर का भोग रूपी जल जीवन रूपी नैय्या में भरने लगता है जिसके फलस्वरूप तुम्हारी जीवन-नैय्या संसार सागर में विषय-भोग रूपी लहरों के थपेड़े खाकर शीघ्र डूब जाती है। यह अहं बुद्धि से किया हुआ कर्म ही जीव का बन्धन है। इसके विपरीत अनासक्त भाव से अर्थात् कर्त्तव्य बुद्धि या ईश्वरार्पित बुद्धि से जो कर्म करता है उसका अन्तःकरण सिनेमा के पर्दे की तरह होता है, जिस प्रकार सिनेमा के पर्दे पर आगका लगना, आँधी का चलना, बाढ़ का आना आदि नाना प्रकार की घटनाएँ होतीं रहती हैं लेकिन उन समस्त घटनाओं का पर्दे पर कोई असर नही होता। सिनेमा समाप्त होने पर पर्दा ज्यों का त्यों पूर्ववत् बना रहता है। इसका एकमात्र कारण है पर्दे का अनासक्त भाव। इसी प्रकार असासक्त होकर कर्म करने वाले योगी महात्मा के अन्तःकरण पर इस संसार-रूपी फिल्म की घटनाओं का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

वासना-रहित कर्म करने वाला योगी सदैव जीवन-मुक्त है। उसे भोगों का बन्धन भला कैसे बाँध सकता है। राजा जनक अनासक्त भाव से संसार के समस्त कर्मों को करते हुए ही विदेह कहलाये।

उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणों से पाठक-गण इस बात को भली प्रकार समझ गये होंगे कि योग-साधन द्वारा जीव प्राकृतिक बन्धनों को तोड़ कर तथा प्रकृति पर अपना आधिपत्य जमाकर अपने शुद्ध अविनाशी तथा आनन्दमय स्वरूप को उपलब्ध कर सकता है।

आज संसार की उल्टी गति है कि जिस परमात्मा को जिज्ञासु, योगी महात्माओं ने खोजकर शरीर रूपी मन्दिर में मन की निर्मलता व निश्चलता के बाद देखा है अर्थात् जीवों के अन्तःकरण में निवास करने वाले आत्मा को ही योगी जनों ने भगवान का स्वरूप बताया है। आज उसी परमात्मा को अज्ञानी जन, मन्दिर, मस्जिद तथा गिरजाघरों व तीर्थस्थलों में खोजते फिरते हैं जब कि भगवान आत्मरूप में प्राणियों के शरीर रूपी मन्दिर में नित्य निवास करता है। इसका प्रमाण स्वयं भगवान श्रीकृष्णचन्द्र जी ने श्री गीता में दिया है।

"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"

प्राचीनकाल में योगी महात्मा भगवान का ध्यान अपने-अपने हृदय में ही किया करते थे। लेकिन आज उनकी सन्तान बाहर (मन्दिर आदि में) भागी जा रही है। यदि हम बाहर के बजाय शरीर रूपी मन्दिर में बैठकर उसकी (ईश्वर की) तलाश करें तो हम उस घट-घटवासी भगवान को घर में ही प्राप्त कर सकते हैं। यह मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि तो हमारे विचारने तथा मनन करने के स्थान हैं। अर्थात् मन्दिर आदि में जाकर तो हमें शिक्षा लेनी है या विधि सीखनी है परन्तु इस सीखे हुए ज्ञान व विधि का प्रयोग तो

प्राणियों के शरीर में निवास करने वाले आत्मा के प्रति व्यक्त करके ही होगा। जैसे बालक द्वारा पाठशाला में पढ़ी हुई शिक्षा-दीक्षा को प्राप्त करके ही उसका उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता अपितु पढ़ी हुई विद्या का प्रयोग जीवन भर संसार में करना पड़ता है तब ही पढ़ी हुई विद्या का लाभ विद्यार्थी को मिलता है। इसी प्रकार देवालयों व सत्सगों में पढ़े या सुने हुए ज्ञान को जब तक हम क्रियात्मक रूप नहीं प्रदान करते हैं, तब तक हमें उससे लाभ नहीं मिल सकता। आज अधिकांश लोगों ने तो कीर्तन, भजन करने और रामायण तथा गीता सुनने को ही भगवान की पूजा या सेवा समझ रखा है। मगर वे इन धर्म-ग्रन्थों पर विचार कर इनके द्वारा दी गई भगवान की आज्ञाओं के पालन करने का प्रयत्न कभी नहीं करते। धर्म-ग्रन्थों को तोते की तरह रटने में ही कल्याण समझकर लकीर के फकीर बने रहते हैं।

आज के भक्त लोग उस सर्व शक्तिमान, निर्विकार तथा आनन्दमय भगवान कृष्ण, शंकर तथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम की उपासना करते हुए भी निर्बल, विकारी तथा सब प्रकार से दुखी बने रहते हैं। यह तो एक प्रकार से उपासना का परिहास तथा इष्टदेव का अनादर है, क्योंकि यथार्थतः उपासना का अर्थ तो अपने इष्टदेव की शक्ति प्राप्त करना अर्थात् भगवान् को जानकर उन्हीं के समान हो जाना है। योग-शास्त्र का अखण्डनीय सिद्धान्त है, कि योगी जिसका ध्यान करता है, वह उसी के समान बनता जाता है। इसका प्रमाण रामायण में मिलता है :—

"जो जानहिं तिहि देउ जनाई।
जानत तुम्हें तुमहि होइ जाई॥"

इसके अतिरिक्त बाल्मीकि 'राम' का उल्टा 'मरा' का जाप करके तुलसीदास जी के शब्दों में ब्रह्म समान हो गये :—

"उल्टा नाम जपा जग जाना ।
बालमीकि भये ब्रह्म समाना ।"

जिन इष्टदेव की तुम उपासना कर रहे हो, अगर उन राम-कृष्ण व शिव की शक्ति तुम्हारे अन्तःकरण में जागृत नहीं हुई तो निश्चय जानो कि उपसना में कहीं त्रुटि अवश्य है। दूसरे शब्दों में अभी सम्बन्ध ठीक से स्थापित नहीं हुआ है। लोहा अग्नि की उपासना करे अर्थात् अग्नि के साथ रहे और फिर भी वह शीतल बना रहे तो फिर समझना चाहिए अग्नि तथा लोहे का साथ ठीक-ठीक हुआ नहीं। अग्नि का साथ करने पर तो लोहा स्वयं अग्नि स्वरूप ही हो जायेगा।

ओ राम के उपासकों! तुम्हारे राम तो मर्यादा पुरुषोत्तम थे, क्या उनकी उपसना करके तुम्हारे अन्दर कुछ मर्यादाओं का समावेश हुआ? ओ, कृष्ण के उपासकों। क्या तुमने योग-योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण की आज्ञाओं का पालन किया? गीता में स्पष्ट रूप से तुम सब को भगवान आज्ञा दे रहे हैं "तस्माद्योगी भवार्जुन" क्या उसे पालन किया? ओ योग योगेश्वर! भगवान शंकर के उपाशकों! तुम्हारे उपास्य देव तो त्याग और वैराग्य की साक्षात् मूर्ति स्वरूप थे, क्या तुमने त्याग और वैराग्य को अपनाया। जिन्होंने संसार के कल्याण के लिए सहर्ष हलाहल का पान किया, उनके उपासक तुम किसी की एक कड़वी बात तक सहन नहीं कर सकते। अरे ओ हनूमान के उपासकों! तुम्हारे उपास्य देव तो अखण्ड ब्रह्मचारी थे, अतुलित बल-धाम थे क्या तुमने ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया? सज्जनों, विचारो तुम्हारे सभी इष्टदेव योगी थे और सर्व शक्तिमान थे और तुम उन योगियों के उपासक निरन्तर भोगी बनते जा रहे हो। तुम्हारी यह उपासना कैसी? तुम्हें अवश्य ही अपनी उपासना में सुधार करना होगा।

जिससे कि तुम उपास्य देव की शक्तियों को प्राप्त कर सको। विचारो। एक कलक्टर के नौकर में भी कलक्टर के साथ रहने से ही कलक्टर की बू आ जाती है। नौकर यदि भुरजी के यहाँ नौकरी करले, भले ही उसे भुरजी के यहाँ कलक्टर से अधिक वेतन मिले, किन्तु उसे कलक्टर के यहाँ जैसी शक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। ठीक इसी प्रकार यह भोग अर्थात् माया तो भुंजिन के समान है। इसकी नौकरी से तो मुंह काला हो ही जायगा। यह तो निन्दित कर देगी और ईश्वर उस कलक्टर के समान है जिसका प्रताप यह सब ससार है। जो सर्व शक्तियों व ऐश्वर्यों का भण्डारी है। तुम इसी (भगवान) की उपासना करो। तुम केवल ईश्वर के अस्तित्व को ही स्वीकार न करो, अपितु शास्त्रों द्वारा दी गई ईश्वरीय आज्ञाओं का भी पालन करो।

सज्जनों! इस तथ्य को आज ही व अभी समझ लो कि सुर-दुर्लभ, हृष्ट-पुष्ट मानव शरीर को पाकर भी इसे विषय-भोगों में यदि योंही गँवा दिया, इसको पाकर यदि आप अपना कल्याण न कर सके तो वृद्धावस्था के आने पर आपको अपने किये पर पछताना होगा अत:—

यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा।
यावच्चेन्द्रिय शक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयोनायुषः॥
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नोमहान्।
प्रोद्दीप्ते भवने च च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥

अर्थात्—हे युवकों! जब तक यह नूतन और निर्दोष शरीर स्वस्थ है, जब तक बृद्धावस्था तुमसे बहुत दूर चुपचाप बैठी है, जब तक तुम्हारी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हुई है और जब तक आयु क्षय नहीं हुई है तब तक ही अपने कल्याण का प्रयत्न करलो, इसी में बुद्धिमानी है, नहीं तो घर में आग लगने पर कुआँ खोदने की बात सोचकर जो चुपचाप बैठ जाता है उसका घर आग लगने पर जल ही जाता है।

इति-शुभम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

जीवन-तत्व-साधन

नेपाल में हिमालय से आकर हमारे दादा गुरू योग-योगेश्वर परम परम प्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने जहाँ योग के प्रचार के द्वारा हजारों दुःखी नर-नारियों का कल्याण किया, वहाँ उसके साथ ही साथ योग के सरल साधनों द्वारा सभी प्रकार के साध्य रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा कर आरोग्य प्रदान भी किया। श्री प्रभु जी ने एक ऐसे अनुपम तथा अद्वितीय साधन को अपने मन से प्रकट किया, जिसके विधिपूर्वक ६ माह तक लगातार करने पर काया कल्प हो जाता है। इस साधन को करने वाले व्यक्ति कई-कई सेर कच्ची चने की दाल तथा कई-कई सेर सब्जी तक खा जाया करते हैं। इसके अतिरिक्त कई-कई सेर तक दूध व फलों का सेवन नित्य प्रति किया करते हैं। यह साधन इतने विलक्षण हैं कि इनके करने से मनुष्य को हर समय भूख लगी रहा करती है। मनुष्य कच्ची सब्जी या दाल खाता-खाता थक जाता है किन्तु उसकी भूख शान्त नहीं होती। यह साधन जीवन-तत्व के नाम से प्रसिद्ध है।

आजकल हमारे दादा गुरू द्वारा प्रचलित, शक्तिमयी दीक्षा द्वारा ध्यान, धारणा के अभ्यास से साधकों को समाधि-लाभ देना तथा योग के सरल साधनों द्वारा आरोग्य-प्रदान करने वाले कार्यों को हमारे गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज कराया करते हैं। जीवन-तत्व की इन नौ क्रियाओं का वर्णन पहले के कहीं अन्य योग के ग्रन्थों में नहीं मिलता। यह साधन केवल हमारे देशव्यापी, आश्रमों की ही निधि है। यह जीवन-तत्व-साधन अति सरल रूप में हैं। जिसको रोगी, वृद्ध सभी सफलतापूर्वक कर सकते हैं। यह जीवन-तत्व

साधन जीवनी शक्ति का दाता तथा युवावस्था से क्षीण हुए रोगियों को युवावस्था देने वाला सिद्ध हुआ है। यह वीर्य-तत्वहीन पुरुषों को शक्ति देने वाला है। इस जीवन-तत्व-साधन के द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग विशेषतः उदर का अल्प समय में व्यायाम हो जाता है। इसके नित्य-प्रति के अभ्यास से शरीर के प्रत्येक भाग से वायु-विकार व चरबी दूर होकर रक्त-संचार शुद्ध हो जाता है। इनसे शरीर की जीवनी-शक्ति बलवती बनकर पाचन-शक्ति बढ़ जाती है। साधन सभी प्रकार के रोगों को दूर कर अपूर्व शक्ति को देने वाले हैं। अब संक्षेप में इन ९ क्रियाओं के नाम, इनकी करने की विधि तथा इनसे मिलने वाले लाभों को समझ लिया जाय।

पहला अंग सर्वोत्तान—

विधि—भूमि पर चित्त लेटकर दोनों पैरों को मिलाओ। इसके बाद सिर के पीछे अपने दोनों हाथों की अँगुलियों में फँसा कर मिले हुए दोनों पंजों को उल्टा करके अँगड़ाई लेते हुए हाथ-पैरों की तरफ सारे शरीर को तनाव की स्थिति में लाओ। इस प्रकार यह क्रिया तीन बार की जाती है।

लाभ—इस क्रिया से शरीर-स्थित नस, नाड़ियाँ पूर्णतः खुल जाती हैं। इसके द्वारा आलस्य, प्रमाद हट जाता है तथा शरीर में में एक नवीन स्फूर्ति का संचार हो जाता है।

दूसरा अंग—स्कंध चालन—

विधि—स्वस्तिक आसन से चौकड़ी लगाकर मेरुदण्ड को सीधा करके बैठो। इसके बाद क्रमशः दोनों कंधों को आगे से पीछे

की ओर तथा पीछे से आगे की ओर गोलकार में घुमाओ।

लाभ——इस क्रिया के करने से दोनों फेफड़े शुद्ध हो जाते हैं, रक्त एवं रस का संचार विधिपूर्वक होने लगता है। यकृत, प्लीहा आदि रोग इससे स्वभावतः शान्त हो जाते हैं। इससे पाचन-शक्ति भी तीव्र हो जाती है।

तीसरा अंग—पगचालन——

विधि——साधक भूमि पर चित्त लेट जाय। दांया-बाँया हाथ अपने शरीर-दण्ड के साथ सीधे जमा कर रखे। उसके बाद बाँए पैर पर दाँए पैर को रखकर इस प्रकार हिलायें कि जिससे बाँए पैर का अँगूठा व दाँए पैर की एड़ी जमीन को स्पर्श करे। इसी प्रकार से दाँए पैर पर बाँया पैर करके पूर्वोक्त प्रकार से हिलाये, इस प्रकार दो-दो मिनट बारी-बारी से दोनों पैरों को हिलाओ।

लाभ——इस क्रिया के करने पर शरीर का नाभि से नीचे का पूरा भाग हिलता है। इससे आँत पूरा काम करने लगती है। कोष्ठ-बद्धता आदि रोग निर्मूल हो जाते हैं।

चोथा अंग—नाभि-चालन—

विधि——इसमें मनुष्य सीधा लेटकर अपने हाथों को पूर्वोक्त बतलायी विधि से शरीर के बायें व दायें हाथों को सीधा जमा करके पेट को दायें-बायें इस प्रकार हिलायें जिस प्रकार कि करवट बदली जाती है।
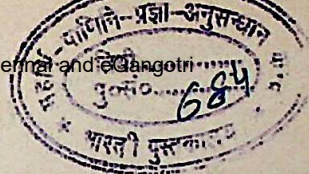
लाभ——इसके द्वारा मंदाग्नि की निवृत्ति होकर अत्यधिक भूख बढ़ती है।

पाँचवाँ अंग–जानु-प्रसार––

विधि——इस क्रिया में पूर्ववत् ही लेटे रहें। एक पैर को बिल्खुल सीधा तनाये रहें और दूसरे पैर को मोड़ करके उसको सीधा रहने वाले पैर के घुटने के पास रखें और घुटनों को तीन बार क्रमशः जमीन पर लगायें। दाहिने पैर का घुटना दाहिनी ओर तथा बाँयें पैर का घुटना बाँयी ओर जमीन पर लगावें।

लाभ——इस प्रकार करने से स्नायुमंडल में पूरा पूरा तनाव हो जाता है और किसी भी प्रकार की स्नायुओं में विकृति नहीं रहती है। यह पग, घुटनों और जाँघों के जोड़ों से वायु-विकार को दूर करता है।

छठवां अंग–बाल-मचलन–

विधि :–यह क्रिया बच्चों के मचलने का अभिनय है। सीधे लेट करके अपने हाथों व पैरों को दायें के बाद बाँयें व बाँयें के बाद दाँयें इस प्रकार चलाओ जिस प्रकार कि मचलते हुए बच्चे करते हैं। यह क्रिया केवल एक ही मिनट तक पूरे वेग से की जानी चाहिए। एक मिनट पूरे वेग से करने के बाद बिल्कुल शाँत भाव से सीधे लेट जाओ व बच्चे के बालस्वरूप का निरन्तर ध्यान करो तथा अपने को भी बिल्कुल बालक स्वरूप समझो।

लाभ :—यह क्रिया जिगर, तिल्ली, गुर्दा, फेफड़े, दिल व दिमाग के सर्व रोगों को लाभप्रद हैं।

सातवाँ अंग-बालध्यान-

विधि जमीन पर चित्त लेटकर शरीर को शिथिल करके लगभग तीन मिनट तक स्वस्थ बच्चे का ध्यान करना चाहिए तथा स्वयं को भी बालस्वरूप समझना चाहिए। जब साधक को अपना स्वरूप बच्चे जैसा प्रतीत होने लगे तभी इस क्रिया का सिद्ध रूप समझना चाहिए।

लाभ :—इसके करने से शरीर में जीवनी शक्ति का पूरा-पूरा विकास होता है तथा मन को कार्य करने की नवीन स्फूर्ति मिलती है।

आठवाँ अंग—नाड़ी-चालन—

विधि :—इस क्रिया में सीधे बैठ करके अपने दोनों पैरों को खूब दूर तक जितना भी अधिक से अधिक खोल कर फैला सकें, फैला लें इसके बाद मेरुदण्ड को थोड़ा आगे की ओर झुका करके चक्राकार घुमाते हुए दोनों हाथों से अपने पैरों के दायें व बायें अंगूठों का स्पर्श करो अर्थात् जिस समय दाहिने हाथ से फैले हुए बांये पैर के अंगूठे को छुओगे तो बाँया हाथ एक दम पीठ पीछे चला जायेगा और जब फैलाये हुए दाहिने पैर के अंगूठे को घूमते हुए बाँये हाथ से छुओगे तो दाहिना हाथ एक दम पीछे चला जायेगा।

लाभ :— इस क्रिया के करने से यथा नाम तथा गुणों की प्राप्ति होती है, अर्थात् सभी नाड़ियों में पूरी रक्त की गति होती है व रक्त व रस का ठीक संचालन होता है इसके द्वारा समस्त नाड़ियों के मल, रक्त, रस तथा धातु आदि का शोधन होता है यह वायु और धातु-रोगों की निवृत्ति के लिए अति उपयोगी है इससे गृहणी नाड़ी ठीक होती है।
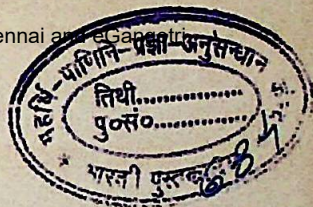
नवाँ अंग—उत्क्षेपण—

विधि :— इसमें सब क्रियायें करने के बाद सीधे खड़े हो जायें। क्रम से अपने दाहिने व वाँयें पैरों को झटक दें।

लाभ :— इससे रक्त-संचार ठीक होता है।

इस साधन को करने वाला व्यक्ति प्रारम्भिक में सर्वोत्तान केवल तीन वार, स्कंध चालन १० मिनट, पग-चालन दोनों तरफ का ५ मिनट, नाभि-चालन १० मिनट, जानुप्रसार के तीन-तीन बार, बाल मचलन १ मिनट, बच्चे का ध्यान ३ मिनट, नाड़ी-संचालन १० मिनट, और उत्क्षेपण-क्रिया केवल ३ बार करे। इन क्रियाओं के करने से भूख में अत्यन्त बृद्धि होती है। निरन्तर करने पर मनुष्य का काया-कल्प हो जाता है। जितने योगासन संसार में प्रचलित हैं उन सभी का इन नौ क्रियाओं में समायोजन है। इन क्रियाओं के करने के बाद एक विशेष प्रकार की स्थिति आ जाया करती है। इसमें पकवान बन्द करके केवल कच्ची दाल आदि का ही सेवन करना पड़ता है, जिससे भूख बराबर लगी रहती है।

इति सिद्धम्।